ग्रन्थाङ्क-२

अन्तर की ओर

[प्रथम भाग]

प्रवचनकार

मुनिश्री मिश्रीमलजी म० 'मधुकर'

सम्पादन

कमला जैन 'जीजी', एम०ए०

प्रकाशक

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर

पुस्तक

'अन्तर की ओर'

[प्रथम भाग]

प्राप्तिस्थान

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन,
पीपलिया बाजार,
ब्यावर (राजस्थान)

संस्करण प्रथम
प्रति ११००
सन् १९६८
मूल्य तीन रुपया

मुद्रक

उद्योगशाला प्रेस, (हरिजन सेवक संघ)
किंग्सवे कैम्प, दिल्ली-९

समर्पण

परम श्रद्धेय ! पूज्य गुरुवर !

श्री मधुकर मुनिजी महाराज !

त्वदीयं वस्तु योगीन्द्र ! तुभ्य मेव समर्पये

—कमला

श्रीमान् गुमानमलजी सा० चोरड़िया

परिचय-रेखा

श्रीमान् गुमानमल जी सा० चोरड़िया

प्रकाशक की ओर से

स्वर्गीय सन्तमत्तम पूज्यश्री हजारीमलजी म० की स्मृति मे 'मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रथ' प्रकाशित करने के उद्देश्य मे एक समिति की स्थापना की गई थी। ग्रन्थ प्रकाशित हो गया। जैन और जैनेतर सभी विद्वानो ने, जिन्होने उसे देखा, उसकी भूरि-भूरि प्रशसा की। उसे एक अनुपम ग्रथ की सज्ञा प्रदान की। समिति का कार्य सम्पन्न हो गया।

किन्तु पुष्कर (अजमेर) मे जब समिति की अन्तिम बैठक हुई तो उसमे प्रकाशन के प्रक्रम को भविष्य मे चालू रखने का निर्णय किया गया और वह समिति 'मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन' के रूप मे परिणत कर दी गई।

इस सस्था ने सर्वप्रथम विदुषी महासती श्री उमरावकुँवरजी म० के प्रवचनो का एक उपयोगी सग्रह 'आम्रमजरी' नाम मे प्रकाशित किया है। तत्पश्चात् स्था० जैन समाज के मूर्धन्य विद्वान् विचारक मुनिश्री मिश्रीमलजी म० 'मधुकर' के प्रवचनो का यह सकलन दो भागो मे प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम भाग पाठको के हाथ मे है, दूसरा भाग शीघ्र ही पहुँचने वाला है।

'अन्तर की ओर' क्या है? इसमे जीवन के नैतिक और धार्मिक अभ्युत्थान का सन्देश है। जीवन को दिव्यता की ओर प्रेरित करने की बलवती प्रेरणा है और देश को जिन अमगल बुराइयो ने बुरी तरह जकड लिया है, उनसे छुटकारा पाने का निर्दिष्ट पथ है।

प्रकाशन की ओर से जैन समाज के मनीषी लेखक डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री एम० ए०, पी०एच०, डी० द्वारा लिखित 'जैनदृष्टि' नामक पुस्तक भी प्रकाशित की जा रही है, जो उन पाठको के लिए उपयोगी सिद्ध होगी जो जैनधर्म एवं दर्शन के विषय मे प्राथमिक जानकारी चाहते है।

आशा है, पाठकगण इस सब साहित्य से लाभ उठाएँगे और सस्था के सहयोगी बनकर इसकी प्रकाशन-क्षमता की वृद्धि मे सहायक होगे।

पीपलिया बाजार
ब्यावर

मत्री,
मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

दो शब्द

अन्तर को उन्नत, पवित्र तथा उज्ज्वल बनाने वाली यह पुस्तक 'अन्तर की ओर' पाठकों के कर-कमलों मे पहुंचा सकने के कारण आज मेरा अन्तर असीम आह्लाद मे परिपूर्ण है।

यह मेरा द्वितीय प्रयास है। इससे पूर्व मैने परम विदुषी महासती श्री उमराव कुंवरजी म० 'अर्चना' सिद्धांताचार्य के विद्वत्तापूर्ण तथा मार्मिक प्रवचनों का सम्पादन 'आम्र-मंजरी' के रूप मे किया है। पाठकों ने उसे पसन्द किया, यह मेरे लिए सन्तोष का कारण बना। इसी से उत्साह तथा प्रेरणा लेकर पंडित-रत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी म० 'मधुकर' के प्रवचनों का सम्पादन कर उनके विचारों को पाठकों के अन्तर की ओर पहुँचाने का प्रयत्न किया है। पाठक स्वयं ही पढ़कर निर्णय करेंगे कि इसमें मुझे कहां तक सफलता प्राप्त हुई है।

विषय के मर्म तक पहुँचना आपकी बड़ी भारी विशेषता है। आपके गूढ़ चिन्तन का यह चिह्न है।

सपादन करते समय आपके विचारो को सही रूप मे रहने देने का मैने भरसक प्रयत्न किया है, फिर भी आवश्यकतानुसार कही-कही न्यूनाधिकता भी की गई है।

सपादनकाल मे सयमनिष्ठ, श्रद्धेय उपप्रवर्त्तक श्री व्रजलालजी म० सा० ने अत्यन्त वात्सल्य-भाव से मुझे अनेक सुझाव दिये और सतत प्रेरणा प्रदान की है तथा मेरे पिताजी प० श्री शोभाचन्द्रजी सा० भारिल्ल ने मेरी पूर्व कृति 'आम्र-मजरी' की तरह ही इस प्रवचन-सग्रह को भी अपने हाथो मे सवार दिया तथा समय-समय पर मेरा मार्ग-दर्शन कर मुझे उत्साहित किया इसके लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

किं बहुना, आशा ही नही अपितु विश्वास है कि, पाठक मेरे इस प्रयास का भी सहर्ष स्वागत करेंगे तथा 'अन्तर की ओर' प्रवचन-सग्रह मे से राजहस के समान उत्तम विचारो के अमूल्य मोती चुनेगे।

—कमला जैन 'जीजी'

[१]

साधना का मार्ग : सरलता

धर्म का एकमात्र ध्येय है मुक्ति प्राप्त करना। मुक्ति की प्राप्ति तब होती है जबकि राग, द्वेष तथा अज्ञान आदि विकारो को पूर्णरूपेण नष्ट कर दिया जाय। मुक्ति की वाछा सभी के हृदय मे होती है। बन्धन किसे प्रिय लगता है ? सब मुक्त होना चाहते है, सब उसके लिए अपने-अपने ढग से प्रयास करते है। किन्तु न तो सभी को मुक्ति मिलती है और न सभी को एक सरीखी क्रियाओ का एक-सा फल ही मिलता है।

एक ही बाजार मे एक ही वस्तु का व्यापार करने वाले अनेक व्यापारियो को हम देखते हैं किन्तु हम पाते है कि उन्हे एक-सरीखा लाभ नही होता। किसी को लाखो की आमदनी होती है, कोई पेट ही भर पाते है और कोई-कोई तो अपनी लगाई हुई पूजी को भी खो बैठते है। ऐसा क्यो होता है ? इसके अनेक कारण हो सकते है।

कोई व्यापारी अपने व्यापार को पूरी ईमानदारी से करता है और अहर्निश अपने कार्य की प्रगति का ध्यान रखते हुए परिश्रम करता है। दूसरा व्यक्ति कार्य तो प्रामाणिकता से करता है किन्तु सुखशील होने के कारण पूरा समय दुकानदारी मे नही लगाता और आय से अधिक खर्च कर देता है। तीसरे प्रकार का व्यक्ति धूर्त्त होता है, बेईमानी से पैसा कमाना चाहता है पर उसकी धूर्त्तता तथा बेईमानी अधिक दिन नही चलती, एक न एक दिन पोल खुल जाती है।

परिणामस्वरूप प्रथम व्यक्ति अपने परिश्रम तथा सच्चाई के द्वारा लाखो रुपया कमाता है और बाजार में उसकी साख बनी रहती है। दूसरा व्यक्ति ईमानदार होते हुए भी आलस्य तथा अधिक व्यय के कारण सिर्फ अपने परिवार की और अपनी उदरपूर्ति कर पाता है। तीसरी श्रेणी का व्यक्ति निकृष्ट होता है। वह ठग और कपटी होने के कारण शीघ्र ही लोगो की नजरो मे गिर जाता है तथा लाभ न होने के कारण धीरे-धीरे जमा पूजी भी खा बैठता है।

यही हाल साधनापथ पर चलने वाले साधकों का भी होता है। साधना का मार्ग अत्यन्त विषम और कण्टकाकीर्ण है। किन्तु इसी पर चलकर आत्मा मुक्ति के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच सकती है। अनंत आत्माएँ इस पथ का अवलम्बन करके शाश्वत सुख की अधिकारिणी बनकर मुक्त हुई हैं। अनेक देवत्व प्राप्त करके सुख का उपभोग करती है किन्तु अनेक पापात्मा साधक ऐसे भी होते हैं जो साधना का ढोंग करते हुए, बकवृत्ति का अवलम्बन करके जीवन के अन्त मे नरक की ओर प्रयाण करते है।

साधना-पथ पर चलने वाले सभी साधकों को साधना का फल समान क्यों नहीं प्राप्त होता ? सभी सयमी मोक्ष क्यों नही पाते ? इसके उत्तर मे कई कारण बताए जाते है। प्रथम तो साधना पथ पर चलनेवाले सभी साधको की स्थिति समान नही होती। सब की दृढता तथा शक्ति एक-सी नही होती। साधना मे जो मजबूत होते है वे अपने कर्मों का क्षय शीघ्र कर लेते हैं तथा जो दुर्बल होते हैं वे मजिल पर धीरे-धीरे पहुच पाते है। दूसरे, साधना के तरीके सभी के समान फल देने वाले नही होते क्योंकि साधना विभिन्न प्रकार की होती है। तीसरे, साधना की क्रियाएँ एक-सरीखी होने पर भी साधकों के मनोबल मे जमीन-आसमान का अतर हो सकता है। सभी की भावनाएँ एक-सी नही रहती। क्रिया एक ही होती है किन्तु एक साधक उसे सच्चे मन मे करता है और दूसरा दिखावटी तरीके से। चौथा कारण यह है कि साधक को पूर्वसचित कर्मों को भी भोगना पडता है और वे सब के समान नही होते। उनके कारण साधना मे भी तरतमता आ जाती है।

एक ही गुरु से साथ-साथ ज्ञान प्राप्त करने पर भी कोई शिष्य ज्ञानावरणीय कर्म का बंध अधिक तीव्र होने के कारण विशेष ज्ञानलाभ नही कर पाता और दूसरे के ज्ञानावरणीय कर्म का उदय तीव्र न होने से वह शीघ्र ही ज्ञानलाभ कर अपनी साधना व स्वाध्याय आदि को सफल बना लेता है।

कोई असातावेदनीय कर्म का उदय होने के कारण अस्वस्थता की दशा मे अधिक साधना नही कर पाता और कोई पूर्ण स्वस्थ रहने के कारण अपना अधिक से अधिक समय साधना मे लगाता है। इसके अतिरिक्त भी कोई साधक थोडी साधना भी, पूर्ण सरलतापूर्वक अपनी प्रत्येक भूल की आलोचना करते हुए करता है। और कोई साधना का दिखावा अधिक करता हुआ भी उसमें दत्त-चित्त नहीं हो पाता और इस कपट के कारण सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाता। ऐसे साधक को कुछ भी हासिल नहीं हो पाता। कहते भी हैं—

न खुदा ही मिला न विसाले सनम ।
न इधर के रहे न उधर के रहे ॥

ऐसा साधक सिद्धि प्राप्त करने के लिए ससार के भोगविलास को त्याग देता है और साधना मे मन को न रमा सकने के कारण कर्मों का क्षय भी नही कर पाता ।

कहने का तात्पर्य यही है कि प्रत्येक साधक साधना करता है किन्तु विभिन्न कारणो से उनकी सिद्धि मे अन्तर पड जाता है । एक ही प्रकार की साधना करने वालो मे से कोई तो एक जन्म मे ही कर्मों का नाश कर लेता है और कोई अनेक जन्मो मे भी कर्मो का क्षय नही कर पाता ।

अगर करनी मे सच्चाई होती है तो कर्मों का पर्वत भी अल्प समय मे बिखर जाता है । इसके विपरीत अगर करनी मे मलिनता और कपट हो तो स्वल्प पुरातन कर्मों का भी क्षय होना कठिन हो जाता है । यही नही, कपट-साधना के फलस्वरूप वह नूतन कर्मों से भी लिप्त बन जाता है । उस क्रिया से उसे यथेष्ट फल प्राप्त नही होता । कबीर ने कहा है—

एक कर्म है बोना उपजे बीज बहुत ।
एक कर्म है पूंजना उदय न अंकुर सूत ॥

साधक का आदर्श कर्मबन्ध से बचना है । वह सवर और निर्जरा के लिए ही प्रयत्नरत रहता है । किन्तु इस प्रकार की वृत्ति सदा सभव नही है, फिर भी उसे अशुभ क्रिया से तो बचना ही चाहिए । शुभ क्रिया का बडा महत्त्व है ।

Good actions are the invisible hinges of the doors of heaven.

शुभ क्रियाए स्वर्ग के दरवाज़े का अदृश्य कब्जा है । साधक अपनी साधना को सफल बनाने के लिये जो-जो क्रियाए करता है वे सम्यक् तब कहलाती हैं जब उन्हे शुद्ध मन से और शुद्ध श्रद्धा से किया जाय । साधना करते समय अगर मनोबल कमजोर हो गया और मन की पवित्रता मे कलुषता घुल गई तथा साधना दिखावा ही रह गई तो सारा गुड गोबर हो जाता है । किया कराया मिट्टी मे मिल जाता है ।

स्थानाग सूत्र मे एक चौभगी के द्वारा मार्गों की वक्रता तथा ऋजुता (सीधापन) का उदाहरण देते हुए, पुरुषो के विषय मे बताया है—

एक व्यक्ति दूसरे को अगर कर्ज देता है तो वह, चाहे सगा भाई भी क्यों न हो, पूरी लिखा-पढी किये विना नही देता।

किन्तु गाँवो मे आज भी मनुष्य अत्यत सरल होते हैं। उन्हे शहरो के जैसे कायदे कानूनो की आवश्यकता नही होती। बडी-बडी समस्याएँ भी वे अपने गाँव की पचायतो मे ही सुलझा लेते है। ग्रामीण व्यक्ति अशिक्षित अथवा अधिक शिक्षित न होते हुए भी आचरण से अत्यत महान् होते है। वहा एक व्यक्ति की बहू-बेटी को सारा गाँव अपनी बहू-बेटी मानता है। किसी कवि ने सदाचार का महत्त्व बताते हुए कहा है कि कोई मनुष्य कितना भी ज्ञानी, शास्त्रो मे पारगत विद्वान् तथा साक्षात् बृहस्पति भी क्यो न हो किन्तु अगर वह आचरणहीन है तो उसे धिक्कार है —

मतिमान हुए, धृतिमान हुए, गुणवान हुए बहु खा गुरु लातें।
इतिहास भूगोल, खगोल पढ़े नित न्याय रसायन मे कटी रातें।
रस पिंगल भूषण भाव भरी, गुण सीख गुणी कविता करी घाते।
यदि मित्र चरित्र न चारु हुआ, धिक्कार है सब चतुराई की बातें।

वास्तव मे जिस ज्ञान से चरित्र की प्राप्ति न हो और सरलता की जगह जटिलता और अहम् आ जाए, वह ज्ञान निष्फल है।

धर्मराज युधिष्ठिर का बाहरी आचरण और आतरिक भावनाए कितनी सरल निष्कपट और सच्चाई से भरी हुई थी। उनके लिए दुश्मन व दोस्त मे तनिक भी अतर नही था।

कौरवो तथा पाँडवो मे महा-भयानक युद्ध हो रहा था और महाभारत अपनी समाप्ति पर आने को था। जव कौरवो की सेना के बडे-बडे महारथी काम आ चुके तब दुर्योधन घबराया। विचार करने लगा कि पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य, महारथी कर्ण और मेरे सभी भाई प्रयाण कर चुके। अब मेरी बारी आ गई है, क्या उपाय करू जिससे मै बच जाऊ?

बहुत सोचने पर भी उसे कोई उपाय अपने बचाव का नही सूझा तो वह सीधा युधिष्ठिर के पास ही चला गया। उनसे ही दुर्योधन ने अपने बचने का उपाय पूछा।

युधिष्ठिर सच्चे व सरल थे। उन्होने यह जानते हुए भी कि महाभारत का मूल और समस्त गृह-कलह का कारण दुर्योधन ही है, उसे सस्नेह अपने पास बैठाया, शात किया और कहा—

भाई, कल युद्ध का अठारहवाँ तथा मेरी समझ मे अंतिम दिन है। तुम्हारे लिए बड़ा अशुभ भी है किन्तु अगर मेरी सलाह के अनुसार चलोगे तो तुम्हारा बाल बाका नहीं होगा। माता गांधारी महान् पतिव्रता तथा शिरोमणि नारी है। उन्होंने अपने नेत्रों को वस्त्र से बांध रखा है। उन नेत्रों मे इतनी शक्ति है कि अगर वे अपने नेत्रों को खोलकर किसी के शरीर की ओर दृष्टिपात करें तो उसका शरीर वज्र का हो जाएगा। अगर तुम मृत्यु से बचना चाहते हो तो माता गांधारी की शरण लो और उनसे कहो कि—अगर आज तुम मेरा मुँह नहीं देखोगी तो फिर कभी नहीं देख सकोगी।

दुर्योधन को मानो नया जीवन मिल गया। वह मन ही मन खुशी से नाचता हुआ वहा से लौटा। पर मार्ग मे ही श्रीकृष्ण उसे मिल गए। कृष्ण ने चतुराई से जान लिया कि क्या गड़बड़ हो गई है। उन्होंने दुर्योधन को बेवकूफ बनाया। कहा—क्या तुम अपनी माता के सामने नग्न होओगे? शर्म नहीं आएगी क्या? कम से कम अपने गुप्तांग तो ढक लेना।

कहते ही हैं- "विनाशकाले विपरीतबुद्धि।" विनाश का काल उपस्थित होने पर मति मारी जाती है।

दुर्योधन ने केले के पत्तों मे शरीर के गुप्तांग को आवृत कर लिया। परिणाम स्वरूप गांधारी की दृष्टि पड़ने से उसका समस्त शरीर तो वज्र का हो गया किन्तु पत्तों से ढंका हुआ शरीर का भाग वज्र का नहीं हो सका। और उसी जगह जांघ पर महाबली भीम द्वारा गदा-प्रहार करने से दुर्योधन की मृत्यु हुई।

बंधुओ! कथानक का अंतिम भाग हमारे विषय से संबंधित नहीं है। क्योंकि दुर्योधन का मृत्युकाल उपस्थित हो गया था। मृत्यु को कोई एक पल के लिये भी नहीं टाल सकता। चाहे वज्र का शरीर हो जाये या वज्र-निर्मित गढ़ मे जाकर भी मनुष्य छिप जाय। कहा भी है—

वज्र विनिर्मित गढ मे या अन्यत्र कहीं छिप जाना।
पर भाई यम के फंदे मे अन्त पड़ेगा आना॥

हमें तो यह देखना है कि युधिष्ठिर कितने सरल व्यक्ति थे कि जिन्होंने अपने घोर विरोधी को, जिसने बार-बार उन्हें भाइयों सहित मार डालने का प्रयत्न किया, जीतने का तरीका बता दिया। क्षण भर के लिए भी यह नहीं सोचा कि जब तक दुर्योधन जीवित रहेगा हमारी विजय नहीं होगी।

इसके अलावा, इस कथा से हम यह भी समझ सकते है कि सरल-चित्त व्यक्ति कितना विश्वसनीय होता है। दुर्योधन महाकुटिल तथा दुर्जन व्यक्ति था फिर भी उसे युधिष्ठिर पर पूर्ण विश्वास था और इसीलिए प्रतिपक्षी होते हुए भी वह निस्सकोच धर्मपुत्र युधिष्ठिर के पास अपने जीवन की रक्षा का उपाय पूछने जा सका।

सरलता सच्चाई पर निर्भर होती है। जो पुरुष सत्यवादी होता है उसके हृदय मे सरलता स्वय अपना स्थान बना लेती है। मनुष्य-समाज तभी स्थिर रह सकता है, जब कि सच्चाई विद्यमान रहे। यदि ससार मे झूठ ही झूठ रहे तो कोई किसी पर विश्वास न कर सके और ससार का विनाश न हो तो भी वह नरक तो अवश्य बन जाय। चाणक्य का कथन है —

सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रवि।
सत्येन वाति वायुश्च, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थात् सत्य से सूर्य तपता है, सत्य से ही वायु बहता है। सब सत्य मे ही स्थिर है।

सत्य का उल्लघन करने से मानव समाज दूषित हो जाता है और उसके नष्ट-भ्रष्ट होने की नौबत आ सकती है। अग्रेज दार्शनिक एमर्सन ने भी कहा है —

"Every violation of truth is a state at the health of human society" सत्य का प्रत्येक उल्लघन मानव समाज के स्वास्थ्य मे छुरी भोकने के समान है।

सच्चा पुरुष अत्यन्त ईमानदार होता है। उसका मुकाबला एक मेधावी पुरुष भी नही कर सकता। सच्चाई और ईमानदारी एक-दूसरे से बधी हुई होती हैं। और जहा सचाई नही होती वहा ईमानदारी और प्रामाणिकता भी नही होती। कपट मनुष्य को घृणास्पद बना देता है और उसके अन्य गुणो को खोखला करके ढहा देता है। उसकी सरलता नष्ट हो जाती है और वक्रता उसके जीवन मे सिक्का जमा लेती है।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रथम प्रकार के महापुरुष बाह्य और आभ्यतर दोनो रूप से अत्यत सरल होते हैं। वे पूर्ण प्रामाणिक होते है क्योकि सदा सत्य पर दृढ रहते हैं। ऐसे ही पुरुष इस लोक मे यश तथा विश्वास के पात्र बनते हैं और इस लोक के बाद मुक्ति के अधिकारी बन जाते है। इस सबध मे बताया गया है —

सच्च जसस्स मूल, सच्च विस्सासकारण परमं ।
सच्चं सग्गद्वार, सच्च सिद्धिस्ससोवाण ।।

अर्थात् सत्य यश का मूल है, सत्य विश्वास का कारण है । सत्य स्वर्ग का द्वार है और सत्य सिद्धि (मुक्ति) का सोपान है ।

एक बार भगवान् ऋषभदेव के शिष्य नित्य की अपेक्षा कुछ विलब से अपने स्थान पर लौटे । भगवान् ने उनसे देर से लौटने का कारण पूछा ।

शिष्य बोले—भगवन्, मार्ग मे नट का नृत्य हो रहा था, उसे देखने के लिए वहा रुक गए थे ।

भगवान् ने उन्हे समझाते हुए कहा—जैनशासन मे साधुओ को नाटक-तमाशा देखना वर्जित है । अत. तुम प्रायश्चित्त लो और भविष्य मे उन्हे देखना छोड दो ।

शिष्यो ने नतमस्तक होकर प्रभु की आज्ञा मान ली । किन्तु दूसरे दिन वे फिर कुछ देर से लौटे ।

भगवान् ने पुन उनसे विलब का कारण पूछा तो शिष्यों ने उत्तर दिया—आज हम नटी का नृत्य देखने लग गए थे ।

भगवान् ने कहा—मैंने तुम्हे कल तो नृत्य देखने को मना किया था । फिर भी आज तुम लोग नृत्य देखने चले गए ।

शिष्यो ने अत्यत सरल हृदय से कहा—भगवन् ! आपने नट का नृत्य देखने के लिए मना किया था । वह हमने नही देखा, बस, नटी का नृत्य देखकर ही आ गए । अगर यह भी अपराध हो तो आप क्षमा करें । हम अब कभी नृत्य नही देखेंगे ।

गुरु अपने प्रिय शिष्यो की सरलता भरी जडता देखकर मुस्कराने लगे और बोले—भोले वत्सो ! नट के नृत्य के निषेध मे नटी के और साथ ही प्रत्येक प्रकार के नृत्य का निषेध समझना चाहिये । अस्तु, इसकी भी शुद्धि करो और भविष्य मे ऐसे दोपो से बचो ।

शिष्य अत्यत सरल थे । उन्होने बडी नम्रता के साथ गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की और प्रायश्चित्त कर लिया ।

यह उस समय का उदाहरण है जब लोगो की प्रकृति मे वक्रता तथा छल-कपट नही था । शिष्यो ने लोलुपता से नृत्य नहीं देखा था, भोलेपन से

व सहज-भाव से मार्ग मे नृत्य देखने लग गए थे और इसीलिए बिना कोई बहाना बनाए निष्कपट भाव से गुरु के सम्मुख यथार्थ बात प्रकट कर दी। ऐसे शिष्य भी सफल साधक बनकर सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। जो शिष्य ज्ञानवान होने पर भी कपटी तथा वक्र होते है उनका उद्धार होना कठिन ही नही वरन् असंभव होता है। किसी ने कहा भी है —

मूर्खा वरा निष्कपटा, साधवो ये भवन्ति ते।
आलोचयन्ति गुर्वन्ते, यथा नाटक-पश्यका॥

अर्थात् मूर्ख शिष्य भले ही हो पर कपटहीन होने चाहिए। ऐसे शिष्य अपनी भूल को स्वीकार करने के लिये तैयार रहते हैं, जैसे नट-नटी का नाटक देखने वाले शिष्य।

चौभंगी के अनुसार दूसरे प्रकार के पुरुष वे होते है जो बाहर से तो सीधे व सरल दिखाई देते है किन्तु अन्दर से धूर्त, कपटी और छल से भरे हुए होते है। ऐसे व्यक्ति बडे खतरनाक होते है। उनका आचरण तथा व्यवहार अत्यन्त शुद्ध व मित्रतापूर्ण दिखाई देता है किन्तु अवसर पाते ही वे स्वार्थ-सिद्धि के लिये अपने हितैषी मित्र का भी गला घोटने मे नही हिचकिचाते।

जो बाहर से सरल किन्तु अन्दर से वक्र होते है वे भले साधु पुरुष ही क्यो न हो, और कितनी भी उनकी बाह्य क्रिया धर्ममय क्यो न दीखती हो, उन्हे अपनी उस क्रिया का अथवा साधना का वास्तविक फल नही मिल सकता।

व्यवहार के क्षेत्र मे और धर्म के क्षेत्र मे भी मन की भावना का मूल्य है। कोई भी कार्य किया जाय उसकी अपेक्षा कार्य के पीछे भावना का महत्त्व अधिक होता है। जो काम शुद्ध हृदय से किया जाता है, देखने मे भले ही वह छोटा हो किन्तु उसका फल महत्त्वपूर्ण होता है और बडे से बडा कार्य भी अगर हीन भावना से किया जाए तो उसकी कीमत बडी नही होती।

हृदय की वक्रता भावनाओ को दूषित कर देती है, उसमे स्वार्थ तथा लोभ की कलुषता भर जाती है। ऐसा व्यक्ति बाहरी रूप मे कितना भी सुन्दर क्यो न हो पर उसे कहा जाएगा:—

मन मलीन तन सुन्दर ऐसे।
विष-रस भरा कनक घट जैसे॥

सुवर्ण के घडे मे अगर विष भरा हो तो उस घडे का क्या मूल्य हो सकता है ! कुछ भी नही । आजकल अनेक साधु वेपधारी व्यक्तियो के विषय मे सुना जाता है कि वे दिन मे तो गलियो मे घूम-घूमकर भिक्षा मागते हैं किन्तु रात्रि को वेप परिवर्तन करके होटलो मे जाकर अभक्ष्य का सेवन करते है और नाटक सिनेमा देखा करते हैं । इस प्रकार की वृत्ति महापाप है । ऐसे वक्राचारी स्वय नरक के पात्र बनते हैं और जन समाज को भी पाप मार्ग पर चलाते हैं । वे दभ और पाखड का सेवन करके समस्त साधु-समाज को कलकित करते हैं । साधु-वेश धारण करके भी धन की लालसा, विषयो की अभिलाषा न मिटी, रसलोलुपता का क्षय न हुआ तो इससे बढकर और विडम्बना क्या हो सकती है ।

सच्चा साधु वही है जो अपने पवित्र वेष के अनुरूप ही अपने हृदय को भी पवित्र बनाता है । परम विरक्ति और सन्तोष को हृदय मे धारण करता है । मणि को तृणवत् समझता है । जिसके हृदय मे किसी को छलने की भावना नही होती । प्रतिष्ठा और पूजा की आकाक्षा नही होती । जो निरन्तर अपनी आत्मा मे रमण करता है और जगत् मे रहता हुआ भी जल मे कमल की तरह जगत् से अलिप्त रहता है । उसकी आत्मा दुनिया के छल-प्रपचो मे नही पडती । नीति मे कहा भी है —

तेरे भावे जो करे, भलो बुरो ससार ।
नारायण तू बैठ के, अपनो भवन बुहार ।।

अगर साधक अपना कल्याण करना चाहता है तो उसे अपनी आत्मा की शुद्धि करनी चाहिये । अपने हृदय को बाहरी कलुष से बचाना चाहिये । दूसरो को अपने वेप के द्वारा धोखे मे न डालकर अपनी बुराइयो को ही हटाने का प्रयत्न चालू रखना चाहिये ।

कपटी और मन का वक्र व्यक्ति सदा दूसरो को भुलावे मे डालने का प्रयत्न किया करता है और इस प्रयत्न मे लगे रहने के कारण वह गुण ग्रहण नही कर पाता, न ही अपनी ज्ञान-वृद्धि कर सकता है ।

मन मे कपट रखकर जो साधक गुरु से ज्ञान प्राप्त करना चाहता है वह कभी सफल नही होता और न गुरु के उपदेश को सही रूप मे समझ सकता है । उसके हृदय मे विनय तथा श्रद्धा का अभाव होता है, इस कारण वह प्रत्येक बात मे बाल की खाल निकालने का प्रयत्न करता रहता है । जो हृदय कोरे कागज की तरह स्वच्छ और उज्ज्वल होता है उसी पर

ज्ञान अंकित हो सकता है। किन्तु कपट का चिकनापन जब हृदय पर फिर जाता है तो गुरु कितना भी उपदेश क्यो न दे, कपटपूर्ण हृदय पर वह अकित नही होता।

जहाँ सरलता होती है वहाँ अत्यन्त शान्ति और पवित्रता का वातावरण रहता है। निर्भयता तथा निश्चिन्तता का वास होता है। धोखेबाजी और ठगाई का भय नही रहता। मन नि शक रहता है। इसके विपरीत, जहा कपट आ जाता है वहाँ मित्रो की मित्रता खटाई मे पड जाती है और सभी मित्र उसे छोड जाते हैं यह कहते हुए —

कबिरा तहा न जाइये जहा कपट का हेत।
जानो कली अनार की, तन राता मन स्वेत ॥

कहने का तात्पर्य यही है कि कपट सदा ही मित्रो के अथवा नातेदारो और रिश्तेदारो के बीच एक दीवार बनकर खडा हो जाता है और सारे स्नेहभाव को तिरोहित कर देता है। कपटी पुरुषो से सभी सावधान रहना चाहते हैं।

तीसरी तरह के पुरुष वे होते है जो बाहर से वक्र किन्तु अन्दर से सरल होते हैं। बाहर से वक्र होने का अर्थ उनकी कुटिलता से नही है। क्योकि जिसका हृदय सरल होता है वह बाह्य रूप से भी किसी का अनिष्ट नही करता।

ऊपरी वक्रता हित-चिन्ता की दृष्टि से ही होती है। माता-पिता सतान मे बुराइयाँ आते देखते हैं तो उसे डाटते है, आवश्यकता होने पर मारते-पीटते भी है। किन्तु उनका क्रोध सतान का अनिष्ट नही चाहता। शिक्षक पाठशाला मे छात्रो को नाना प्रकार की सजा देते है। कभी-कभी अत्यन्त उद्दडता करने पर बेत से भी मारते है। किन्तु उनकी भावना छात्र को शिक्षित बनाने की ही होती है। इसी प्रकार गुरु शिष्य की भूलो के लिये उसकी भर्त्सना करते है तथा प्रायश्चित्त का विधान करते हैं। वैद्य डाक्टर रोगी को नीरोग करने के लिये कडवी दवाइया देते है। कई बार तो मरीज के इन्कार करने पर दो-चार व्यक्ति बलपूर्वक उसे दवा पिलाते है, इन्जेक्शन लगाते है या कोई अग सड जाने पर उसे काटते भी है। किन्तु इस सब कडाई के मूल मे भलाई की भावना ही होती है।

पुराने विचारो के बुजुर्ग कुछ तेज स्वभाव के होते है और वे समाज की व्यवस्था ठीक रखने के लिये कडे नियमो का निर्माण करते है। समाज

के उन नियमो का उल्लघन करने पर वे समाज के सदस्य को व्यक्तिगत रूप से कभी हर्जाना देने को बाध्य करते हैं। बहिष्कृत व्यक्ति को प्रायश्चित्त करने पर या शुद्धि के कुछ आयोजन करने पर पुन जाति मे सम्मान प्राप्त करने का अधिकार देते है। उनका यह वाकापन सामाजिक आचरण को उत्तम बनाने के लिये तथा सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिये होता है।

जो व्यक्ति ऊपर से वक्र और अन्दर से सरल होता है उससे किसी को खतरा नही होता। प्राचीन समय में, जब बात-बात मे युद्ध हुआ करते थे, अनेक बार व्यक्ति अपने मर जाने की सम्भावना होने पर अपने प्रतिद्वन्द्वी को ही अपनी या अपने परिवार की रक्षा का भार सौप देते थे। और जिसे वह भार सौंपा जाता था वह उसे अपना कर्तव्य समझकर बराबर वहन करता था।

महाभारत युद्ध मे भीष्म तथा द्रोणाचार्य आदि पाडवो के विरोधी थे। वे उनसे युद्ध करते थे फिर भी हृदय से पाडवो का हित चाहते थे तथा उनकी कल्याणकामना करते थे। वीरवर अर्जुन प्रतिदिन युद्ध आरम्भ होने पर वाणो के द्वारा ही अपने पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोणाचार्य को नमस्कार करता था।

तात्पर्य यही कि ऊपर से वक्र पुरुषो के द्वारा कभी किसी का अहित नही होता। बादाम की तरह वे ऊपर से कठोर होने पर भी भीतर से कोमल होते हैं और मनुष्यो को जिस तरह बादाम की गिरी लाभ पहुचाती है, वे भी लाभ पहुचाते है।

चौथे प्रकार के मनुष्य, जैसा कि चौभगी मे कहा गया है, 'वकेनामेगे वके' अर्थात् भीतर बाहर से बाके रहते हैं। कुटिलता उनकी नस-नस मे भरी होती है। वे कभी भी दूसरो का हित नही कर सकते। उनकी भावना अहर्निशि दूसरो को दु ख पहुचाकर अपना स्वार्थ साधन करने की होती है।

अन्दर तथा बाहर से वक्र व्यक्ति से कभी भलाई की आशा नही की जा सकती। दुर्जन व्यक्ति को कितना भी उपदेश क्यो न दिया जाय, वह साधु-पुरुषो की श्रेणी मे नही आ सकता। नीतिकार चाणक्य ने कहा है —

अन्तर्गतमलो दुष्टस्तीर्थस्नानशतैरपि।
न शुद्धयति यथा भाण्ड सुराया दाहित च तत् ॥

अर्थात् जिसके हृदय मे कुटिलता है, विकारादि को मैल है, ऐसा दुष्ट सौ बार भी तीर्थस्नान करके शुद्ध नही होता, जैसे मदिरा का पात्र आग मे तपाने पर भी शुद्ध नही होता।

दुष्ट व्यक्ति न अपना उपकार करता है और न दूसरो का। वह जब तक जीवित रहता है तब तक दूसरो को दु ख व कष्ट पहुचाता है और मरने के बाद नरक मे जाकर स्वय उन्ही कष्टो को भोगता है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह ऐसे वक्र व्यक्तियो की सगति से सदा दूर रहे। उनसे न मित्रता रखे और न ही दुश्मनी मोल ले। क्योकि दुष्ट व्यक्ति मित्र होने पर भी आस्तीन का साप बनता है और शत्रु होने पर तो पूछना ही क्या है। हितोपदेश मे भी बडी सुन्दर सीख दी गई है:—

दुर्जनेन सम सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत्।
उष्णो दहति चांगार शीत कृष्णायते करम्॥

दुर्जनो के साथ मैत्री और प्रेम कुछ भी नही करना चाहिये। कोयला यदि जलता हुआ होता है तो स्पर्श करने पर जला देता है और यदि ठण्डा होता है तो हाथ काला कर देता है।

सज्जनो! आज हमने स्थानाग सूत्र की इस महत्वपूर्ण चौभगी के आधार पर चार प्रकार के मनुष्यो के विषय मे ज्ञात किया है। इस चौभगी मे प्रथम प्रकार के जो पुरुष बताए गए हैं वे साधु-पुरुष अत्यन्त उत्तम प्रकृति के होते है। वे सदा पर की भलाई तथा आत्म-कल्याण मे प्रयत्नशील रहते है। प्रत्येक मनुष्य को ऐसे सज्जन व्यक्तियो के ससर्ग मे रहना चाहिये तथा उनके जीवन को आदर्श मानकर उनका अनुकरण करना चाहिये। साधु-पुरुष एक नौका की तरह होते है जो स्वय भी पार होते है और अपने आश्रय मे रहने वालो को भी पार ले जाते है।

सज्जनो की सगति मे रहने वाले व्यक्ति स्वय भी इस लोक मे प्रतिष्ठा प्राप्त करते है और इसी लोक मे मुक्ति के अधिकारी बनते हैं। सज्जन पुरुष कुपित होने पर भी किसी का अपकार नही करते। वे सदा दूसरो का भला करते हैं और शाति तथा प्रसन्नता का वातावरण बनाए रहते है।

Repose and cheerfulness are the badge of the gentleman —एमर्सन

अर्थात् शान्ति और प्रसन्नता सज्जन पुरुप के लक्षण है।

दूसरी तरह के पुरुष ऊपर से सीधे और सरल दिखाई देते हैं किन्तु अन्दर से कपटी और कुटिल होते हैं। "मुँह मे राम बगल मे छुरी।" कहावत को चरितार्थ करते हैं। ऐसे व्यक्तियो से सदा मनुष्य को सावधान रहना चाहिये।

तीसरे प्रकार के पुरुष जो अभी मैंने बताए हैं ऊपर से वक्र अर्थात् टेढे दिखाई देते है किन्तु अन्दर से अति सरल व हितचिन्तक होते हैं। प्राय गुरुजन इस कोटि मे आते हैं। उनकी वक्रता से मनुष्य को घबराने की आवश्यकता नही है। उनकी ताडना व भर्त्सना को जीवननिर्माण का साधन मानकर अपनाने की आवश्यकता है।

सबसे निकृष्ट व्यक्ति चौथे प्रकार के होते हैं जो जीवन मे किसी का शुभ नही करते। ऐसे व्यक्तियो के समीप स्वप्न मे भी जाने की आकाक्षा नही करनी चाहिये। तुलसीदास जी नेतो यहाँ तक कहा है—

वरु भल वास नरक कर ताता,
दुष्ट सग जनि देहु विधाता।

नरक मे जाना भला पर विधाता कभी दुष्ट की सगति न कराए।

इस पद्य से भी ज्ञात होता है कि अन्दर तथा बाहर से वक्र व्यक्ति कितने त्याज्य होते हैं। इसीलिये प्रत्येक मनुष्य को अत्यन्त सोच विचार कर तथा अच्छी तरह से परखकर ही किसी व्यक्ति से सम्पर्क स्थापित करना चाहिये।

हृदय की सरलता मानव को आलोक प्रदान करती है तथा आत्मा को अत्यन्त शाति की अवस्था मे पहुचा देती है। इसके विपरीत वक्रता कलुष है। वह मानव की आत्मा को दूषित करती हुई जन्म-मरण के चक्र को और भी गति प्रदान करती है।

प्रत्येक मनुष्य को सरलता का अवलम्बन लेते हुए अपने हृदय को शुद्ध तथा पवित्र बनाना चाहिये। भूल हो जाना बुरी बात नही है किन्तु उसे छिपाने का प्रयत्न करना बुरी बात है। अत सरलतापूर्वक जीवन मे होने वाली भूलो पर पश्चात्ताप करते हुए साधक को चौभगी मे बताए हुए सीधे मार्ग पर चलना चाहिये। सरलता ही जीवन को उन्नत बनाने का सबसे सीधा मार्ग है जो आत्मा को मोक्ष के द्वार पर पहुचा सकता है।

[२]

सत्य-दीप

शास्त्रो मे धर्म का निरूपण अनेक प्रकार से किया गया है। धर्म के अनेक अग हैं तथा लक्षण भी विविध प्रकार के बताए गये है। किन्तु उन सबमे सत्य को प्रधानता दी गई है।

वास्तव मे सत्य अत्यन्त महान् है और उसकी महिमा अनन्त है। सत्य में ही धर्म प्रतिष्ठित है। कहा भी है कि—'धर्म सत्ये प्रतिष्ठित' सत्य ही महान् धर्म है अत सब धर्म उसी के अग है। शास्त्र मे कितनी गहराई से सत्य का महत्त्व बताया गया है —

'त लोगम्मि सारभूय, गम्भीरतर महासमुद्दाओ, थिरतरग मेरुपव्वयाओ सोमतरग चदमडलाओ, दित्ततर सूरमडलाओ, विमलतर सरयनहयलाओ, सुरभितर गधमादणाओ।''

—प्रश्नव्याकरण, २–२४

अर्थात् सत्य लोक मे सारभूत है। वह महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है। सुमेरुपर्वत से भी अधिक स्थिर है। चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य है और सूर्यमण्डल से भी अधिक देदीप्यमान है। सत्य शरत्कालीन आकाश से भी निर्मल है और गंधमादन पर्वत से भी अधिक सौरभयुक्त है।

सत्य ससार मे सर्वसम्मत धर्म है। वैसे विश्व मे सैकडो पथ और मत प्रचलित है। उन सबकी अनेक मान्यताएँ परस्पर विरोधी है। उन मान्यताओ को लेकर एक मत वाले दूसरे मत वाले से लडते-झगडते रहते है। प्राय कलह बढ़ जाने पर खून की नदियाँ भी बह जाती हैं, किन्तु जहाँ सत्य के महत्त्व की बात सामने आती है वहाँ सभी पथ एक स्वर से उसकी महानता का उद्घोष करते हैं।

अपने इस कथन की पुष्टि मे, वर्तमान मे प्रचलित मुख्य-मुख्य धर्मों के उल्लेखो पर ध्यान देना उपयुक्त होगा। जैन-शास्त्र का अत्यत गभीर तथा महत्त्वपूर्ण उद्धरण अभी-अभी आपके समक्ष रखा ही है। अब हम ऋग्वेद को देखते हैं। उसमे कहा है ,—

'सुविज्ञान चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी यस्पृधाते । तयोर्यत्सत्य मतरह् जीयस्तत् सोमोवति हन्त्यासत् ।'

ऋग्वेद, ७-१०४-१२

अर्थात्—बुद्धिमान् पुरुष जानता है कि सत्य और असत्य का विरोध है। सत्य को शक्ति प्राप्त होती है और असत्य का नाश होता है।
उपनिषद् मे कहा है —

यो वै स धर्म सत्य वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति, धर्मं व वदन्त सत्य वदतीत्येतद्धयेवैतदुभय भवति ।

—बृहदारण्यक उपनिषद्

अर्थात् जो निश्चय रूप से धर्म है वही सत्य है। इसलिये सत्य बोलने वाले के लिये कहते हैं कि वह धर्म की बात करता है और धर्म की बात कहने वाले को सत्य बोलने वाला कहते हैं। इसलिये यह दोनो एक समान हैं।

महाभारत मे सत्य की महिमा बडे उत्तम शब्दो मे कही गई है —

सर्व-वेदाधिगमन, सर्वतीर्थविगाहनम् ।
सत्यस्यैव च राजेन्द्र ! कला नार्हन्ति षोडशीम् ॥

अर्थात्—समग्र वेदो का पठन और समस्त तीर्थों का स्नान, सत्य के सोलहवें भाग के बराबर भी नही होता।

इस कथन से ज्ञात होता है कि आन्तरिक धर्म कितना महत्त्वपूर्ण होता है और बाह्य क्रियाकाड कितना गौण। दोनो मे महान् अन्तर है। बाह्य क्रियाकाड मे यदि सत्य और धर्म का प्राण नही है तो वह निर्जीव कलेवर से क्या बढकर है ?

सिक्खो के धर्मशास्त्र मे भी लिखा है —

कहे नानक जिन सच तजिया,
कूडे लागे उनी जन्म जूए हारिया ।

—रामकली मोह ३, अनन्द

गुरु नानक के कथनानुसार जिन लोगो ने सत्य को त्यागकर झूठ की शरण ली, उन्होने अपना जन्म जुए मे हार दिया है।

भारतीय धर्मों के अतिरिक्त मुस्लिम-शास्त्रो मे भी आदेश दिया गया है कि सत्य का त्याग मत करो,—

"वला तसबिसुलहक्का बिल्बातले व तकमतुल हक्का।"

अर्थात् सत्य को छिपाओ मत। सत्य महापराक्रमी और प्रचड शक्तिमान् होता है। सूर्य के सामने जिस तरह अन्धकार विलीन हो जाता है उसी तरह सत्य के सामने असत्य गायब हो जाता है।

ईसाइयो की धर्म-पुस्तक इजील मे भी सत्य के विषय मे कहा है कि वह शाश्वत है। उसका कभी विनाश नही हो सकता। इसके विपरीत असत्य **क्षणिक तथा अस्थायी** होता है।

The lip of truth shall be established for ever but a lying tougne is but for moment

—इजील

अर्थात् सत्य की जिह्वा अटल रहेगी, किन्तु झूठ की जिह्वा केवल क्षण भर के लिये होगी।

बधुओ! धर्म अनेक है। किन्तु सभी ने सत्य को अपना सर्वोपरि सिद्धान्त माना है और सभी ने सत्य की महत्ता बताते हुए उसे आत्मा का स्वाभाविक तथा परमपवित्र धर्म माना है। अनेक प्रकार से सत्य की पुष्टि की जा सकती है। किन्तु मैंने तो आपको कतिपय धर्मों के उदाहरण ही दिये है। इनसे ही आपको ज्ञात हो जाएगा कि जैनधर्म, मुस्लिमधर्म, सिक्खधर्म, ईसाईधर्म, वेद, उपनिषद, आदि सभी सत्य को कितना महान् और सिद्धि के लिये अनिवार्य साधन मानते हैं।

मनुष्य किसी भी प्रकार की साधना के लिये जब उद्यत होता है तो उस साधना के अनुरूप कुछ मर्यादाएँ उसे स्वीकार करनी पडती हैं। और उन मर्यादाओ से बल प्राप्त करता हुआ साधक अपनी साधना मे अग्रसर होता है तथा अत मे सफलता प्राप्त करता है। मर्यादाओ के अभाव मे मनुष्य के हृदय मे संकल्प जागृत नही होता और साधना सफल नही हो पाती।

धार्मिक जीवन आरम्भ करने पर साधक जब धर्मसाधना के लिये उद्यत होता है तो उसे कुछ मर्यादाओ का पालन करना आवश्यक होता है। जैन-शास्त्रो के अनुसार तो मर्यादाओ का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उसमें श्रावक के लिये और साधु के लिये भी सम्पूर्ण आचार-प्रणाली, का समावेश हो जाता है किन्तु जो अन्य समस्त मर्यादाओ का प्राण है और उन सभी के आधार पर जिनका निर्माण हुआ है वे जैनशास्त्र की परिभाषा मे 'मूल गुण' कहे जाते है

मूलगुण पाच हैं— (१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (४) ब्रह्मचर्य तथा (५) अपरिग्रह ।

यद्यपि यह पाँचो 'मूलगुण' अपने आप मे बडा महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है किन्तु गभीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी का पालन करने मे सत्य की आवश्यकता सर्वप्रथम है । असत्य भाषण का मूल कषाय होता है और जहाँ कषाय होगा वहाँ हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह सभी दोष पाए जाएगे ।

सत्य का आचरण करने के लिये आवश्यक नही कि मनुष्य साधु बन जाय, या श्रावक के बारह व्रत ही धारण करे । एक साधारण व्यक्ति और चोर या हत्यारा भी सत्य का पालन कर सकता है । सिर्फ एक सत्य का आलम्बन लेने के कारण ही उस व्यक्ति का जीवन निकृष्ट से उत्कृष्ट बन सकता है ।

एक बार भगवान् महावीर के समवसरण मे अनेक गृहस्थ, त्यागी तथा वैरागी महापुरुष बैठे उनके धर्मोपदेश का श्रवण कर रहे थे । सयोगवश एक चोर भी वहाँ आ बैठ गया और प्रवचन सुनता रहा । प्रवचन के पश्चात् समस्त व्यक्ति अपने-अपने स्थान पर चले गए । किन्तु भाव-विह्वल चोर वही बैठा रह गया । एक सन्त ने उसे बैठे देखकर पूछ लिया—भाई ! प्रवचन सुनकर तुमने क्या ग्रहण किया ?

चोर बोला—महाराज ! मैं एक चोर हूँ अत भगवान् की अमृत-मयी वाणी सुनकर भी क्या कर सकता हूँ ? चोरी तो छोड सकता नही अन्यथा मेरा परिवार भूखा मर जाएगा ।

सन्त मनोविज्ञान के ज्ञाता थे । उन्होने चोर की निष्कपट आत्मा को पहचान लिया और उसे उन्नत बनाने की भावना से बोले—बन्धु ! चोरी नही छोड सकते हो तो न सही, तुम झूठ बोलना छोड सकते हो ? उसी को छोड दो । यह भी बडा भारी त्याग है ।

चोर अत्यन्त प्रसन्न होकर बोला—भगवन ! झूठ बोलना तो मैं-सहज ही छोड सकता हूँ । प्रभु की और आप की साक्षी मे मैं असत्य भाषण का त्याग करता हूँ । मै प्राण-प्रण से इस नियम का पालन करूँगा । यह कहकर वह सत्य बोलने का नियम अगीकार करके वहाँ से चला गया ।

चोर ने सत्य बोलने का नियम ले लिया और जब उसके हृदय मे

सत्य प्रतिष्ठित हुआ तो उसके अन्त करण मे हिंसा से घृणा और दया के प्रति आकर्षण भी पैदा हो गया। वहुत दिनो तक वह कही चोरी करने नही गया। यह सोचकर कि जिसकी चोरी करूँगा सभवत मुझे उसे मार-पीट कर आना पडेगा और अगर मार-पीट न भी करनी पडी तो जो धन मै लाऊँगा उसके अभाव मे वह व्यक्ति न जाने कितने दिन दुखी और व्याकुल रहेगा।

किन्तु जब उनके घर का खाद्यान्न चुक गया और परिवार के भूखे मरने की नौबत आ गई तो उसने सोचा-आज "राजमहल मे ही चोरी करूँ। राजमहल से मैं आवश्यकता के अनुसार ही धन लाऊँगा और उतने से धन की कमी होने पर भी राजा के खजाने मे क्या फर्क पडेगा ? राजा को थोडे से धन के अभाव मे कोई कष्ट भी न होगा।"

यह सोचकर चोर रात को राजमहल मे चोरी करने के इरादे से चला। रास्ते मे उसे राजा श्रेणिक स्वय तथा उसके मत्री अभयकुमार वेष परिवर्तन किये हुए मिले। वे प्राय रात्रि के समय प्रजा की स्थिति जानने के लिये निकला करते थे।

चोर को देखते ही राजा ने पूछा—कौन हो तुम ? चोर असमजस मे पड गया। उसी समय अपना नियम याद आ गया और वह असत्य भाषण न कर सका। साहस करके बोला—चोर हूँ।

उत्तर सुनकर राजा और मत्री मुस्कराते हुए चल दिये। उन्होने समझा-उपहास करता है। यह चोर कैसे हो सकता है ? क्या चोर अपने को चोर कहेगा ?

चोर राजमहल मे प्रवेश कर गया। खजाने मे चार रत्नो के डिब्बे थे। उनमे से सिर्फ दो ही अपनी जरूरत पूरी करने को काफी समझकर उठा लाया।

सयोगवश लौटते समय भी चोर को राजा श्रेणिक और अभयकुमार मत्री मिल गए। उन्होने फिर पूछा—कहाँ गए थे तुम ?

चोर बोला—चोरी करने।

क्या चुरा कर लाए हो ?

चोर ने निर्भय होकर कह दिया—राजमहल मे चोरी करने गया था, जवाहरात के दो डिब्बे चुरा कर लाया हूँ।

राजा ने सोचा—वास्तव मे यह कोई सिरफिरा व्यक्ति दिखाई देता है, मज़ाक कर रहा है।

राजा और मत्री चुपचाप महलो मे लौट गए।

प्रात काल जब राजा का खजाची खजाने मे पहुचा तो उसने देखा कि जवाहरात के चार डिब्बो मे से दो डिब्बे गायब है। उसने इस अवसर का लाभ उठाने के लिये दो डिब्बे अपने घर पहुँचा दिये। फिर राजा के पास जाकर कहा—महाराज! खजाने मे चोरी हो गई है। जवाहरात के चार डिब्बे किसी ने चुरा लिये है।

राजा सुनकर चकित हुआ। पर उसे फौरन याद आया कि रात को जो व्यक्ति मिला था वह वास्तव मे ही चोर था। किन्तु वह बडा सत्यवादी भी था। उसे पकडना कोई मुश्किल नही होगा।

यह सोचकर श्रेणिक ने राज्य मे घोषणा करा दी कि जिस व्यक्ति ने रात्रि को खजाने मे चोरी की है वह दरबार मे उपस्थित हो जाए।

शहर के अन्य लोग हँसने लगे। चोर इस तरह पकडा जाता है क्या? किन्तु राजा को विश्वास था कि चोर साधारण चोर नही वरन् एक महान् आत्मा है और वह अवश्य आएगा।

चोर ने जब राजघोषणा सुनी, तो सोचा—मेरे सत्य की यह एक और कसौटी है। मैं उसमे अनुत्तीर्ण क्यो होऊँ? सत्य की जिस शक्ति से रात को चोरी कर सका, जिसने मेरी रक्षा की, वही शक्ति अब भी मेरी रक्षा और सहायता करेगी। चोर दरबार मे उपस्थित हो गया।

राजा ने प्रश्न किया—क्या तुमने ही चोरी की है? तो बताओ क्या-क्या चुराया है।

चोर ने महाराज को पहचान लिया। वह बोला—अन्नदाता! मैंने तो रात को ही आपसे निवेदन कर दिया था कि मैं राज्य के खजाने से जवाहरात के दो डिब्बे चुराकर लाया हूँ।

राजा ने कहा—मगर खजाने मे से तो चार डिब्बे गायब हैं। तुम दो ले गए तो शेष दो कहाँ गए?

चोर के हृदय मे सत्य का बल था और चेहरे पर सत्य की उज्ज्वलता थी। वह स्पष्ट बोला—महाराज! मैं तो दो ही डिब्बे ले गया हूँ। शेष दो के विषय मे मुझे ज्ञात नही है। मैं चोरी करता हू पर असत्य नही बोलता।

एक बार मैंने भगवान् महावीर का धर्मोपदेश सुना। उससे मेरी आँखें खुल गईं। परिवार की आजीविका एव प्राणरक्षा का अन्य साधन न होने से चोरी करना तो छोड नही सका किन्तु असत्यभाषण का त्याग कर चुका हूँ। अपने सच बोलने के नियम के कारण मैंने रात को ही आपसे सच बात कह दी थी और अभी भी आपके समक्ष उपस्थित हो गया हूँ।

राजा को चोर की बातो पर पूर्ण विश्वास हो गया और उसने जान लिया कि बाकी दो डिब्बे खजाची ने ही चुराए हैं।

कहा जाता है कि चोर की सत्यवादिता के कारण राजा ने उसे अपना कोषाध्यक्ष बना दिया और पुराने खजाची को चोरी करने तथा झूठ बोलने के कारण पद से हटाते हुए सजा दी।

इस कथानक से स्पष्ट हो जाता है कि सत्य का पालन कोई भी व्यक्ति कर सकता है। कोई व्यक्ति कितना भी निकृष्ट क्यो न हो, उसके हृदय मे सत्य का बीजारोपण होते ही वह बीज विराट् बनता जाता है और स्थानाभाव के कारण अन्य दुर्गुण उसके हृदय से निकलते चले जाते हैं। स्पष्ट है कि मानव सत्य के एक छोटे से सूत्र को पकडकर सिद्धिरूपी मजिल तक पहुँच जाता है। शेख सादी ने कहा है —

"सत्य ईश्वर की इच्छा के अनुकूल है। मैंने सत्य के मार्ग पर चलनेवाले को कभी पथभ्रष्ट होते नही देखा।"

वास्तव मे जहाँ सत्य विद्यमान रहता है, वहाँ छल-कपट, ईर्ष्या आदि कदापि नही टिक सकते। जब तक सत्यवादी के हृदयप्रदेश मे सत्य सजग प्रहरी की तरह डटा रहता है, बुराइयाँ उसमे प्रवेश करने का साहस नही कर सकती। यही नही, पहले से प्रविष्ट बुराइयाँ भी बोरिया-बसना बाँधकर चल देती हैं, जिस प्रकार चोर के सत्य का नियम लेते ही चोरी, हिंसा तथा निर्बलता की भावनाओ ने उसके मन मे से प्रयाण कर दिया।

इसके लिए अनिवार्य शर्त यही है कि मानव को दृढसकल्प होकर सत्य को अपनाना चाहिये। अगर मन मे दुर्बलता आ गई तो बुराइयो को पुन प्रवेश करने मे विलम्ब नही लगता।

सत्य केवल वचन मे ही नही वरन मन मे तथा क्रिया मे भी होना चाहिये। आत्मा के कल्याण के लिये सरलभाव से जो वचन से कहा जाता है वह सत्य है, जो मन से सोचा जाता है वह सत्य है तथा जो काया के द्वारा

क्रिया के रूप मे परिणत होता है वह भी सत्य है। इसीलिये सत्य के विषय मे भगवान् महावीर ने कहा है—"मणसच्चे, वयसच्चे, कायसच्चे।"

सिर्फ वचन से बोला हुआ सत्य जीवन को उन्नत नही बनाता जब तक कि मन मे सत्य न हो और उसके अनुरूप क्रिया न हो। अतएव जो मन मे सोचा जाए वही वाणी से बोला जाना चाहिये और वाणी से बोले जाने पर ठीक उसी के अनुरूप आचरण भी करना चाहिये। यही महात्मा के लक्षण होते है। कहा भी गया है —

मनस्येकं वचस्येक, काये चैक महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्, काये चान्यद् दुरात्मनाम्॥

धर्मात्मा पुरुष के मन, वचन तथा तन तीनो मे एकरूपता रहती है। इसके विपरीत दुरात्मा व्यक्तियो के मन मे कुछ और ही खिचडी पकती है, वचन से वह कुछ और कहता है तथा तन से इन दोनो के विपरीत धर्मात्माओ की तरह आचरण करने का ढोग करता है। इन तीनो की विभिन्नता दुरात्माओ का लक्षण है। और इसीलिये वे प्रकाश से अधकार की ओर चलते हैं। इसके विपरीत महात्मा अन्धकार से प्रकाश की ओर चलते हैं। उनका जीवन उन्नत बनता जाता है। स्थानाग सूत्र की एक चौभगी मे भी इसी आशय को लेकर सत्य के चार प्रकार बताए गए हैं। चौभगी इस प्रकार है —

चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते, त जहा—

(१) काउज्जुयया (२) भासुज्जुयया (३) भावुज्जुयया (४) अविसवायणा-जोगे।

ऋजुता का अर्थ सरलता है। ऋजु ही ऋजुक है। कायिक चेष्टाओ को कुटिल मार्ग से विमुखकर लेना तथा यथार्थ मार्ग पर ले आना काय-ऋजुकता कहलाती है।

इसी प्रकार सत्य बोलने मे प्रवृत्त होना भापा ऋजुकता, कपायो को त्याग कर मन को सरल बनाना भाव ऋजुकता तथा अपनी कही हुई बात को उसी प्रकार क्रियापरिणत करना-उसको नही बदलना अविसवादन है।

बधुओ! इसी विषय को अब कुछ विस्तार से आपको बताना चाहूँगा। सर्वप्रथम हम 'भावऋजुकता' अर्थात् मन की सरलता, दूसरे शब्दो मे मन की सत्यता को लेंगे। क्योकि सत्य की पहली कडी मानसिक पवित्रता और दूसरी कड़ी वचन की पवित्रता है।

भगवान् महावीर ने वाणी के सत्य को तो महत्त्व दिया ही है किन्तु उससे भी अधिक महत्त्व मन की पवित्रता तथा सत्यता को दिया है। जब तक मन मे सत्य नही आता, मन मे पवित्र विचार और संकल्प पैदा नही होते, मन सत्य के प्रति दृढ नही बनता, तब तक वाणी का सत्य, सत्य नही माना जाता। जब तक मन मे छल, कपट और झूठ भरा रहता है, अहंकार का सागर हिलोरे लेता रहता है, तब तक वाणी से सत्य बोला जाने पर भी वह सत्य जैनधर्म की भाषा मे असत्य ही माना जाता है। मानसिक सत्य के अभाव में वाचिक सत्य टिक नही पाता।

सत्य का मूल सरलता है और असत्य का मूल क्रोध, मान, माया तथा लोभादि कषाय है। इसलिये मन मे कषाय होने पर उसके बीज से सत्य-वृक्ष नही फलता। कषायो के मूल से तो असत्य का वृक्ष ही पनप सकता है।

मनुष्य जब लोभ-लालच मे फंस जाता है, वासना के नशे मे चूर हो जाता है तब वह अपने जीवन की पवित्रता तथा उसके महत्त्व को भूल जाता है। उसे विवेक नही रहता कि वह साधु है अथवा श्रावक। लोभ और लालच के वश मे होकर मनुष्य जो यथार्थ भाषण करता है वह भी वास्तव मे असत्य है। क्रोध के वशीभूत होकर बोला गया वचन भी असत्य माना गया है। इसी प्रकार भय और उपहास से प्रेरित वाणी भी असत्य की ही कोटि मे समाविष्ट होती है। भगवान् महावीर ने कहा है—

तहेव काणं काणत्ति, पडगं पडग त्तिय।
वाहियं वावि रोगित्ति तेणं चोरे त्ति नो वए॥

—दशवैकालिक ७-१२

अर्थात् क्रोध के वशीभूत होकर किसी काने को काना, नपुसक को नपुसक, रोगी को रोगी अथवा चोर को चोर कहना सत्य होने पर भी पीडा पहुचाने का कारण है, अत. ऐसा सत्य भी नही बोला जाना चाहिये।

साधारण तौर पर लोग आन्तरिक धर्म की तो उपेक्षा करते है और बाहरी क्रियाकाण्ड को अधिक महत्त्व देते है। वे भूल जाते है कि तन से की जाने वाली क्रिया मे मन यदि साथ नही होता तो वह क्रिया निर्जीव की भांति होती है। इसके विपरीत, शरीर से तपस्या, पूजा, प्रार्थना आदि न कर सकने वाले मनुष्य का मन यदि पवित्र है तो वह अपनी आन्तरिक पवित्रता के द्वारा ही कर्मों का नाश कर सकता है। किसी कवि ने कहा भी है.—

भोग को बहाए कहा, जोग को जगाए कहा
तन को तपाए कहा, वस्त्र गेरु रंगा है।
जीवा ! जग माँहि ऐसे भेख धरे होत कहा,
होत मन शुद्ध तब गेहि माहि गगा है।

वास्तव मे जिसका मन सरल होता है, जिसके हृदय मे सत्य निवास करता है, उसे न किसी अन्य तपस्या की आवश्यकता है और न किसी प्रकार का वेष धारण करने की। तुलसीदास ने कहा है—

धरमु न दूसर सत्य समाना, आगम निगम पुरान बखाना।
सत्य सब सुकृत सहाई, वेद पुरान विदित मुनि भाई॥

जैनागम मे सत्य को भगवान् कहा है—"त सच्च खु भयव" गाधी जी ने भी सत्य को ही परमेश्वर माना है। उन्होने कहा है—"परमेश्वर सत्य है यह कहने की वजाय सत्य ही परमेश्वर है, यह कहना और भी उपयुक्त है।"

साराश यही है कि सत्य रूप परमेश्वर की उपासना मन के मदिर मे ही अधिक सुन्दर ढग से होती है। मन-मन्दिर मे सत्य की स्थापना हो जाने पर वचन और क्रिया उसकी आराधना तथा पूजा सही तरीके से कर सकते हैं। सत्य बाहर से नही आता। वह आत्मा के अन्दर ही एक स्वाभाविक शक्ति के रूप मे विद्यमान रहता है। सिर्फ उसे पहचानने की और उस पर दृढ रहने की आवश्यकता होती है।

मनुष्य के अन्त करण से अन्यत्र कही भी सत्य प्राप्त नही होता कि उसे वटोर लाया जाय। जब अत करण सत्य-मय हो जाता है तो स्वय ही मनुष्य का विकास होने लगता है और कषाय तथा मिथ्यात्व धीरे-धीरे किनारा करने लगते हैं। जब साधक की दृष्टि सत्यमयी हो जाती है तो उसके द्वारा जो भी ग्रहण किया जाता है वह सम्यक् होता है। और जब दृष्टि मे मिथ्यात्व होता है तो वह जो भी ग्रहण करती है वह मिथ्या रूप मे परिणत हो जाता है।

जो शास्त्र मिथ्यादृष्टि व्यक्ति के लिये मिथ्याशास्त्र के रूप मे परिणत होते है वही शास्त्र सम्यक् दृष्टि के लिये सम्यक् शास्त्र हो जाते है। भगवान् महावीर ने कहा है—"अगर साधक की दृष्टि सत्यमयी है, वह सम्यक् दृष्टि है और सत्य के प्रकाश मे उसने अपने मन के द्वार उघाड रखे हैं तो उसके लिये शास्त्र सम्यक् शास्त्र है और मिथ्यादृष्टि के लिये वही शास्त्र मिथ्या शास्त्र।"

भगवान् महावीर के सम्पर्क मे गौतम, सुधर्मा जम्बू स्वामी आदि

आए। उन्होंने भगवान् के ससर्ग से अपने जीवन को महान् बनाया किन्तु दूसरी ओर गोशालक छह वर्ष तक निरन्तर उनके साथ रहा पर उसने क्या लाभ उठाया ? दुबारा मिला तो भगवान् को मारने के लिये तैयार हो गया। दो सन्तो को तो भस्म भी कर दिया। इससे साबित हो गया कि भगवान् महावीर गौतम आदि को जिस रूप मे दिखाई दिये, गोशालक को नही। गौतम स्वामी जबू स्वामी आदि अनेको ने भगवान् के ससर्ग से मोक्ष पाया परन्तु गोशालक उसे न पा सका।

इसलिये प्रत्येक पुरुष को, अगर वह अपने जीवन को निर्दोष बनाना चाहता है, अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता है, सर्वप्रथम आत्मा मे सत्य का प्रकाश करना होगा और उस प्रकाश के सहारे उन्नति के मार्ग पर चलना होगा। अन्त करण को सरल बनाना होगा जैसा कि चौभगी मे भाव-ऋजुकता कहकर बताया गया है।

अब हम भाषा-ऋजुकता पर आते है। इसका अर्थ है वचनो मे सरलता। सरलता का ही अर्थ सत्यता है। मन के भावो मे सत्यता आने पर वचनो मे भी सत्यता आना आवश्यक है।

मनुष्य को अनन्त पुण्य का उदय होने पर जिह्वा मिलती है और उसके पश्चात् भी अनत पुण्य का और उदय होने पर बोलने की शक्ति प्राप्त होती है। यह जानना अत्यन्त कठिन है कि मनुष्य को बोलने की शक्ति प्राप्त करने के लिये कितना मूल्य चुकाना पडा है।

विश्व मे अनतानत प्राणी है जिन्हे केवल एक स्पर्शेन्द्रिय ही प्राप्त है, अन्य इन्द्रियाँ नही। विभिन्न योनियो मे एक ही इन्द्रिय को प्राप्त करने के बाद अतिशय पुण्य के प्रभाव से जीव द्वीन्द्रिय की योनि पाता है। उस समय उसे जिह्वा प्राप्त तो होती है किन्तु भाषण करने की शक्ति प्राप्त नही होती, स्पष्ट और सार्थक वचन बोलने की शक्ति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय मे तथा समस्त पचेन्द्रियो मे भी नही पाई जाती। हाथी, घोडे, शेर आदि शक्ति व शरीर की आकृति के लिहाज से तो मनुष्य से बहुत बढ-चढकर होते हैं किन्तु वे मनुष्य की भाति स्पष्ट भाषण नही कर सकते। वचनो का आदान-प्रदान सिर्फ मनुष्य ही कर सकता है।

तो जब असख्य योनियो मे भटकने के बाद अनत पुण्य के उदय से मनुष्य भाषण करने की शक्ति प्राप्त करता है तो उस शक्ति का उपयोग क्या मनुष्य को मिथ्या कटुक कपटपूर्ण और दूसरो को दुख पहुचाने मे करना

चाहिये ? ऐसा करने से तो परिणाम यह होगा कि उन विभिन्न प्रकार की असख्य योनियो मे भटकने का क्रम पुन शुरु हो जाएगा।

अगर मनुष्य विवेकवान् है तो अपनी इस बहुमूल्य शक्ति को यो ही नही गवाएगा। बल्कि अभी तक चुकाई हुई कीमत ही नही, उससे भी अधिक वसूल करेगा। वाणी की इस शक्ति के द्वारा वह प्रकृष्ट पुण्य का उपार्जन करने की कोशिश करेगा।

शास्त्रो मे पुण्य के नौ भेद किये गए हैं। वचन-पुण्य भी उनमे से एक गिना गया है। इससे स्पष्ट है कि अगर हम समझ-बूझकर भाषा का उपयोग करें तो उसके द्वारा महान् पुण्य का उपार्जन कर सकते हैं। शास्त्रकारो ने भाषा के सम्यक् प्रयोग पर बहुत बल दिया है। सत्यव्रत का निर्माण ही इसी-लिये किया है कि मनुष्य भाषा की सचाई का ध्यान रखे और कभी मिथ्या भाषा का प्रयोग न करे। सत्य की उपासना करने वाले साधक की सुविधा के लिये शास्त्रो मे भाषा का चार प्रकारो मे वर्गीकरण किया गया है—(१) सत्य भाषा, (२) असत्य भाषा (३) मिश्र-भाषा तथा (४)व्यवहार भाषा।

इन चार प्रकार की भाषाओ मे से असत्य तथा मिश्र यानी कुछ सत्य कुछ असत्य भाषा सर्वथा त्याज्य है। सज्जन पुरुष इन दो प्रकार की भाषाओ का प्रयोग नही करते। वे सत्य भाषा बोलते है या व्यवहार-भाषा बोलते हैं। व्यवहार-भाषा सत्य या असत्य नही मानी जाती। जैसे कोई कहता है— "इस रास्ते से जाओ! यह मार्ग अजमेर जाता है।" यद्यपि मार्ग कही जाता-नही, पथिक ही उसपर आते-जाते है, फिर भी आम तौर पर ऐसा कह दिया जाता है और यह असत्य नही माना जाता।

सत्पुरुष ऐसी भाषा भी नही बोलते जो सत्य होने पर भी कर्कश या पीडाजनक होती है। क्रोध के आवेश मे बोली हुई सत्य भाषा भी सुनने वाले के हृदय में तीर का कार्य करती है और जन्म-जन्मान्तर तक वैर बधने का कारण बन जाती है। भगवान् महावीर स्वामी का कथन है—

मुहुत्तदुक्खा उ हवन्ति कटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया-दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबधीणि महब्भयाणि॥

—दवैशकालिक अ ६, उ ३ गा ७

अर्थात् लोहे के काटे भी शरीर मे चुभ जाए तो कुछ समय तक ही व्यथा पहुचाते है और कुशल व्यक्ति उन्हे बिना विशेष कठिनाई के निकाल देते हैं। किन्तु दुर्वचन के काटे हृदय को इस तरह बीध देते हैं कि उनका निकलना कठिन हो जाता है और वे जन्म जन्मान्तर तक वैर की परम्परा को कायम कर देते है। ऐसे वचन नरकादि नीच गतियो मे ले जाने के कारण अत्यन्त भयजनक होते है।

जो साधक वाणी के महत्त्व को समझ लेते है वे कभी भी इस प्रकार की सन्तापदायक, और पापयुक्त वाणी का प्रयोग नही करते। छल, कपट पूर्वक यहाँ तक कि परिहास मे भी वे कटु सत्य अथवा असत्य भाषा के प्रयोग से बचते हैं।

असत्य भाषण का प्रभाव कभी-कभी बहुत दूरगामी और अनर्थजनक होता है। उसके फलस्वरूप पाप की लम्बी परम्परा चल पडती है। उससे असत्यभाषी का ही नही, दूसरो का भी घोर अहित होता है। इसके लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

क्षीर कदम्बक उपाध्याय के तीन शिष्य थे— नारद, पर्वत और वसु। उपाध्याय के स्वर्गवासी होने के पश्चात् एक बार पर्वत और नारद मे 'अज' शब्द के अर्थ पर मतभेद हो गया। नारद अपने गुरु भाई पर्वत से मिलने आया। पर्वत उस समय अपने शिष्यो को पढा रहा था। उस समय एक वाक्य आया "अजैर्यष्टव्यम्" पर्वत ने उसका अर्थ छात्रो को बताया —अजो से अर्थात् बकरो से यज्ञ करना चाहिये।

नारद यह सुनकर बोला —भाई! ऐसा अर्थ करने से घोर अनर्थ होगा। वास्तव मे गृहस्थो के घर यज्ञो मे अथवा अन्य क्रियाकाडो मे तीन वर्ष पुराने जौ, जिनमे उगने की शक्ति नही रह जाती, होम के काम आते हैं। अज का अर्थ वही जौ है, बकरा नही।

बात बढती गई और तब दोनो ने अपने सहाध्यायी गुरु-भाई राजा वसु से निर्णय कराने का निश्चय किया। साथ ही नारद के मना करने पर भी पर्वत ने ऐसी कठोर शर्त रखी कि जो हममे से झूठा साबित होगा उसे अपनी जीभ कटवानी पडेगी।

इस बीच पर्वत जान गया कि नारद की बात सत्य है, मेरा पक्ष गलत है। मौत को सामने देखकर वह काँप उठा। किन्तु पर्वत की माता को जब यह ज्ञात हुआ तो बोली—तूने शर्त रख कर महान् गलती की है पर

मैं राजा वसु पर दबाव डालकर तेरे पक्ष मे फैसला दिलवा दूंगी। उसकी माता ने यही किया और वसु को इसके लिये तैयार कर लिया।

नियत समय पर दोनो विद्वान् राजा वसु के समक्ष उपस्थित हुए। राजा वसु असदिग्ध रूप से जानता था कि नारद का पक्ष सही है किन्तु पर्वत की माता के दबाव के कारण उसने पर्वत के पक्ष मे फैसला देते हुए, मिश्र भाषा का प्रयोग करते हुए कहा --'अज' शब्द के दो अर्थ होते हैं बकरा भी और तीन वर्ष पुराना शालि आदि भी जो बोने पर उग नही सकता।

कहते है--गुरु-पुत्र के बचाव के लिये वसु के मुँह से ऐसी अनर्थकारी भाषा का प्रयोग सुनकर देवता कुपित हो गए और उसका सिहासन, जो सत्य के प्रभाव से अधर रहा करता था, नीचे आ गया। अपने असत्य भाषण के कारण वसु मरकर सातवें नरक मे गया। इसके साथ ही उसके असत्य ने महाव्यापक रूप ग्रहण कर लिया और उसके फलस्वरूप हजारो वर्षो से जो अनेकानेक पशु मारे जा रहे है उसके दायित्व का भी कारण बना। वसु ने सिद्धान्त, सस्कृति एव धर्म के विषय मे असत्य का प्रयोग किया।

इस कथानक से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मन की तरह ही वचन मे भी एकरूपता न होने पर मन की शुद्ध भावना का भी मूल्य नही रह जाता। मन मे सत्य का ज्ञान होने पर भी वचन मे असत्य आ जाए तो वह कर्म-बन्ध का कारण बन जाता है, चाहे वह लोभ-लालच, क्रोध, ईर्ष्या से अथवा राजा वसु की तरह किसी के दबाव मे आकर ही क्यो न बोला गया हो। राजा वसु को सत्य वस्तुस्वरूप का परिज्ञान था। किन्तु पर्वत की माता के दबाव मे आकर उसने असत्य भाषण किया और परिणाम यह हुआ कि उसे मरकर नरक मे जाना पडा।

चौभगी का तीसरा पद यह है 'काय-ऋजुकता" अर्थात् काया से भी सत्य व सरलतामय क्रियाओ का करना। जो मन से सोचा जाता है, और वाणी से बोला जाता है उसीको अपने जीवन मे उतारना, उसीके अनुरूप आचरण करना काया की सचाई है। प्रत्येक व्यक्ति के हाथ पैर तथा शरीर की समस्त चेष्टाए मन और वचन की ऋजुता का अनुकरण करने वाली होनी चाहिये।

सत्य मन, वचन तथा काय, इन तीनो की शक्तियो को एक ही सूत्र मे पिरो देने से ही वास्तव मे पूर्ण सत्य का स्वरूप निष्पन्न होता है। इसके विपरीत मन मे कुछ चल रहा हो और वचन से कुछ और ही प्रकट किया जा रहा हो तथा जब आचरण का समय आवे तब कुछ और ही रूप ग्रहण कर

लिया जाए तो समझना चाहिये कि वहाँ सत्य का अश भी नही है।

जो पुरुष सत्य को सम्यक् रूप से अपनाता है वह मन मे विचारा हुआ वचन से कहता है और वचन से कहे हुए का पालन शरीर से करता है। अगर हम इतिहास उठाकर देखें तो सहज ही विदित होगा कि अपने वचन का पालन करने के लिये अनेकानेक महान् व्यक्तियो ने अपने प्राणो का भी उत्सर्ग कर दिया। सत्य की रक्षा के लिये अपनी अमूल्य काया की भी आहुति दे दी।

'इमेन्युअल डनन' नामक एक आठ वर्ष के बालक ने भी सत्य की रक्षा के लिये अपने प्राण दे दिये थे। सन् १८५१ ई० मे सेम्युअल नोर्टन नामक एक व्यक्ति ने किसी का खून कर दिया। इमेन्युयल उसी का दत्तक पुत्र था और उसने अपने पिता सेम्युअल को हत्या करते हुए देख लिया था।

पुलिस ने जब इस आठ वर्षीय बालक को बयान के लिये बुलवाया तो उसके पिता सेम्युअल ने उसे झूठा बयान देने की आज्ञा दी। किन्तु पुत्र ने अस्वीकार करते हुए कहा—मैं झूठ नही बोलूगा। कभी नही बोलूंगा!!

सेम्युअल ने क्रोध मे आकर इमेन्युअल को बेंत से पीटना शुरू किया और पीटते-पीटते उसकी जान ले ली। किन्तु मरते दम तक भी सत्यप्रतिज्ञ बालक यही कहता रहा—'मैं झूठ हरगिज नही बोलूंगा।

आखिरी सास तक भी सत्य पर डटे रहने वाले आठ वर्ष के उस असाधारण बालक की स्मृति मे उस नगर के निवासी मई महीने की दूसरी तारीख को 'सत्य दिन' (Truth day) के रूप मे महान उत्सव मनाते हैं। वह क्रम आज तक चल रहा है। कितना महान् था वह बालक? सत्य के प्रति कितनी निष्ठा थी उसकी! सत्य उसके एक एक रोम मे समाया हुआ था। मन वचन तथा काया के द्वारा सत्य का पालन करने का कितना अनूठा उदाहरण है।

अनेक सत्यनिष्ठ पुरुष तो अपने ही नही वरन् अपने पिता, माता, मित्र आदि के वचनो की रक्षा के लिये भी अपने प्राणो का मोह छोड देते हैं। सम्राट अशोक के पुत्र कुणाल का उदाहरण इस कथन की सत्यता का प्रमाण है।

वृद्ध सम्राट अशोक की नव-पत्नी तिष्यरक्षिता ने सम्राट के पुत्र नवयुवक कुणाल से अनुचित प्रस्ताव किया। किन्तु कुणाल ने उसकी इच्छापूर्ति करने से इन्कार कर दिया। वह भाग कर तक्षशिला के नरेश के यहाँ पहुँच

गया। तक्षशिलानरेश ने कुणाल को अत्यन्त स्नेहपूर्वक अपने महल मे स्थान दिया।

कुछ समय बाद तक्षशिला के महाराज ने सम्राट अशोक को कुणाल की प्रसन्नता व कुशलता के समाचार भेजे।

कई वर्षों बाद पुत्र की कुशलता के समाचार पाकर वृद्ध सम्राट को बडा हर्ष हुआ किन्तु कलुपहृदया तिष्यरक्षिता के हृदय मे आग लग गई। पर बनावटी प्रसन्नता प्रगट करती हुई बोली—महाराज ! अच्छा हो यदि आप कुणाल को वही रहकर अध्ययन करने के लिये आज्ञा भेज दें।

तिष्यरक्षिता की कुटिलता से अनभिज्ञ महाराज अशोक ने रानी की बात का सहर्ष समर्थन किया तथा तक्षशिलानरेश को कुशल समाचार लिखने के पश्चात् लिख दिया—'अधीयताम् कुणालः' (कुणाल विद्याध्ययन करे)।

तिष्यरक्षिता ने पत्र पढा और महाराज की नजर बचाकर एक अनुस्वार लगा दिया तथा पत्र रवाना कर दिया।

पत्र तक्षशिलानरेश के पास पहुचा। जब उन्होने पढा—'अंधीयताम् कुणाल' तो उनके आश्चर्य का पार न रहा। अन्य दरबारीगण भी आश्चर्य व दुख के कारण मूक हो गए।

कुणाल को भी पत्र के विषय मे ज्ञात हुआ। वह समझ गया कि उसके पिता के ये शब्द कदापि नही हो सकते किन्तु नीचे पिता के हस्ताक्षर होने के कारण पिता के वचन को सत्य करने का उसने निश्चय कर लिया।

तक्षशिलानरेश से उसने आग्रह करके जल्लाद को बुलवाया और लोहे की गरम-गरम शलाकाए भी मगवाई। किन्तु कठोरहृदय जल्लाद की भी हिम्मत उस सुन्दर, सलौने युवक की आँखें फोड देने की नही हुई। यह देखकर कुणाल ने स्वय अपने हाथो से उन शलाकाओ को अपनी आखो मे चुभा लिया ! उसने अपने पिता के आदेश की रक्षा की।

बंधुओ ! आज कितने व्यक्ति ऐसे मिलेंगे ? आज तो दूसरो के वचन की रक्षा तो दूर अपने स्वय के वचनो का पालन करने वाले भी इने-गिने व्यक्ति ही शायद मिलें ! झूठे वादे करने वाले और बढ बढकर बातें करने वाले व्यक्ति ही चारो ओर दिखाई देते हैं। जब बातो के अनुसार क्रिया करने का समय आता है तो लोग किनारा करने लगते हैं, चुपचाप खिसक जाते है।

आज ऐसे व्यक्तियो की कमी नही जो दूसरो को दिखाने के लिये प्रार्थना, उपासना, जप, तप, दान, दर्शन तथा तपस्या आदि करते है। किन्तु इन क्रियाओ के मूल मे धन की प्राप्ति, अथवा प्रतिष्ठा की प्राप्ति का लोभ होता है। वे यह भूल जाते है कि लोभ अथवा लालच से की जाने वाली शुभ क्रियाए भी कभी मधुर फल नही दे सकती। शुद्ध हृदय के द्वारा सत्कर्म करने पर ही मनुष्य आध्यात्मिक लाभ प्राप्त कर सकता है। दार्शनिक 'शरले' का कथन है—

"Only the actions of the just smell sweet and blossom in the dust.

अर्थात्- सच्चे मनुष्यो के कर्म ही मधुर सुगन्ध देते है और मिट्टी मे भी मिलते हैं।

साराश यह कि मनुष्य की प्रत्येक क्रिया के साथ मन तथा वचन की भी सत्यता होनी चाहिये। इनके बिना क्रिया सारहीन व निष्फल होती है। कपट-पूर्ण क्रिया कर्मबन्ध का ही कारण होती है।

जीवन मे क्रिया का महत्त्व कम नही है। 'रामचरितमानस' मे कहा भी गया है—

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

अर्थात् विश्व मे कर्म (क्रिया) की प्रधानता है। जो जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल चखने को मिलता है।

किन्तु जैसा कि मैंने अभी बताया, कर्म सत्यता तथा मन की प्रशस्तता पूर्वक किया जाना चाहिये। छल, कपट तथा बनावट पूर्वक किया गया कार्य कुकर्म कहलाता है और उससे मधुर फल की आशा रखना बालू मे से तेल निकालने के समान है।

चौभगी के अन्त मे विसवादना योग कहा गया है। किसी व्यक्ति के लिये अगर कोई दूसरा मनुष्य कुछ करने का वायदा करे, किन्तु वक्त आने पर करे नही अथवा इन्कार कर दे तो वह विसवाद कहलाता है। प्रत्येक मनुष्य को ऐसे झूठे वायदो से बचना चाहिये।

किसी व्यक्ति को मिथ्या आश्वासन देकर धोखे मे रखना घोर पाप है। सत्यवादी व्यक्ति कभी किसी को धोखे मे नही रखता। वह कभी वचन-भग

नही करता। 'सद्भिस्तु लीलया प्रोक्त,शिलालिखितमक्षरम्' अर्थात् सत्पुरुष हसी-मजाक मे जो बात कह देते हैं, वह भी पत्थर की लकीर हो जाती है। गाधी जी का कथन है—

"दृढ प्रतिज्ञा एक गढ के सदृश है जो भयानक प्रलोभनो से हमारी रक्षा करती है और दुर्बलता एव अस्थिरता से हमे बचाती है। प्रतिज्ञाहीन जीवन कागज का जहाज है जो सदा डावाडोल रहता है।"

अपनी प्रतिज्ञा का पालन सच्चे पुरुष को अपना तन-धन आदि सभी कुछ त्यागकर भी करना चाहिये। अन्यथा, जैसा कि गाधी जी ने कहा है, उसका जीवन सदा अस्थिर, डावाडोल रहता है और शीघ्र ही भव-सागर के भवर मे डूब जाने की सम्भावना हो जाती है।

सज्जनो! सत्य के विषय मे आपने विस्तृत रूप से जान लिया है। सत्य आत्मा की एक सहज तथा स्वाभाविक परिणति है। अत इसे अपनाने मे मनुष्य को कोई तकलीफ या कठिनाई नही होती। इसे ढूँढने अथवा पाने के लिये कही बाहर नही जाना पडता।

एक बार गाधी जी से एक अग्रेज परिवार मिलने आया। उसमे एक बहन भी थी। उसने गाधी जी से पूछा—Where can I find the truth ?' (मैं सत्य को कहाँ पा सकती हूँ ?) गाधी जी ने उत्तर दिया—"'No where" (कही नही)।

कुछ समय पश्चात् उस बहन ने गाधी जी को अपनी डायरी हस्ताक्षर के लिये दी। उसमे गाधी जी ने लिख दिया —'One can find the truth in his heart' अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति सत्य को अपने हृदय मे से ही पा सकता है।"

वास्तव मे सत्य मन मे ही विद्यमान है और पूर्ण रूप से मन के द्वारा ही इसका पालन करना चाहिये। सिर्फ वचनो के कौशल से छलपूर्ण सत्य बोलना भी सत्य का गला घोटने के समान है। एक उदाहरण है—

दो मित्र थे। उनमे से एक को फासी की सजा मिलने वाली थी। उसने अपने मित्र से कहा—मित्र! यहाँ के जज तुम्हारे सम्बन्धी हैं। किसी प्रकार मुझे फासी की सजा से छुटकारा दिलवा दो।

मित्र जज के पास गया। जज उसे देखते ही समझ गया कि यह अपने मित्र की सिफारिश करने आया है। वह बोला—आओ! बैठो!! पर यह

याद रखना कि मैं आज तुम्हारी कोई भी बात हर्गिज नहीं मानूंगा।

मित्र बोला—जज साहब ! मैं तो यह कहने आया हूं कि आप मेरे मित्र को फासी दे दीजिये।

आशय यही है कि सत्य मे किसी प्रकार का भी छल-कपट नही होना चाहिये और न सत्य स्वर्ग प्राप्त करने के लोभ से या नरक मे जाने के भय से ही बोला जाना चाहिये। जो मनुष्य सिर्फ नरक व तिर्यंच गति के दु खो से डरकर सत्य बोलता है, समझना चाहिये कि वह पाप से नही डरता वरन् पाप के फल से डरता है। झूठ बोलने से उसे परहेज नही है किन्तु झूठ बोलने के फल की चिन्ता है और इसीलिये प्रलोभन या भय के कारण सत्य बोलता है।

सत्य को सहज भाव से जीवन मे उतारना चाहिये। कर्त्तव्य की भावना से हमारी मनोवृत्ति ही सत्य के रग मे रग जानी चाहिये। स्वर्ग का लोभ अथवा नरक का भय सत्य को दिखावा न बना दे इसका ध्यान रखना चाहिये।

कहते है—एक बुढिया बडे दार्शनिक विचारो वाली थी। एक दिन वह एक हाथ मे पानी का घडा तथा दूसरे हाथ मे जलती हुई मशाल लेकर शहर की गलियो मे घूमने लगी। लोगो ने इसका कारण पूछा तो बोली—

मैंने पानी का घडा नरक की आग बुझाने के लिये, तथा मशाल स्वर्ग मे आग लगाने के लिये ले रखी है। ससार मे जितने भी मनुष्य हैं किसी के सिर पर तो नरक का भय सवार है और किसी के मस्तिष्क मे स्वर्ग की सुखद कल्पनाएँ नृत्य कर रही है। कोई साधक तो नरक के दुखो से बचने के लिये साधना कर रहा है, और कोई स्वर्ग पाने के लिये। मै नरक का डर मिटाना चाहती हू और स्वर्ग के लोभ को भी नष्ट करना चाहती हूँ।

लोग उस वृद्धा के उत्तर को सुनकर अवाक् रह गए। किन्तु वास्तव मे होता आज भी यही है। सत्य सत्य के लिये होता है। उसे किसी लालच मे पड कर बेचना उसकी अवज्ञा करना है।

जैन धर्म का सदेश तो यह है कि—साधक ! तू जहाँ है, वही अपने जीवन के लिये कार्य कर। अर्थात् नरक के भय से भी साधना मत कर और स्वर्ग के लोभ से भी मत कर। आत्मशोधन का जो सहज और सीधा मार्ग है, वही मोक्षमार्ग है। उसी पर चल।

बंधुओ ! आपने सत्य का मर्म समझ लिया होगा और उसके द्वारा आत्मोत्थान करने का उपाय भी जान लिया होगा। आप सहज भाव मे, विवेक-पूर्वक सत्य का पालन करेंगे तो आपका जीवन परम मगलमय वन जाएगा।

[३]

तरण-तारण त्यागवृत्ति

इस विराट् विश्व मे अनेक धर्म, सम्प्रदाय और मत-मतान्तर प्रचलित है। सभी की मान्यताएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। किन्तु कुछ सिद्धान्त ऐसे भी है जिन्हे सभी धर्म एक स्वर से महत्त्वपूर्ण घोषित करते हैं और आचरणीय मानते हैं। उन व्यापक तथा सर्वमान्य सिद्धातो मे से एक त्यागवृत्ति भी है। ससार के समस्त धर्म त्यागवृत्ति को जीवन के उच्चतम विकास का मूल मानते हैं। त्यागवृत्ति के बिना मानवजीवन कभी सार्थक नही हो सकता।

ससार मे भोग और त्याग—ये दो प्रवृत्तियाँ सदा से विद्यमान रही हैं। अनादिकाल से जीव वासनाओ के प्रभाव मे आकर, उनसे प्रभावित होकर भोगो की ओर आकर्षित होता है और उनमे अधिक से अधिक लिप्त रहकर सतोष का अनुभव करता है। वह अपने जीवन की सार्थकता अधिकाधिक भोगोपभोग करने मे ही समझता है। भोगो मे वह आनन्द का अनुभव करता है और उसका मन कभी भी उनसे विरत होना नही चाहता।

किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिन्हे भोग-विलास विनाश के सदृश मालूम होते हैं। वे समझ लेते है कि —

"उपभुक्त विष हन्ति, विषया स्मरणादपि।

—उपदेशप्रासाद

अर्थात् विषय-भोग विष से भी तीव्र और घातक होते है। विष तो भक्षण करने पर ही विनाश करता है किन्तु विषय केवल स्मरण करने मात्र से ही आत्मा के गुणो का विनाश कर दिया करते हैं।

वास्तव मे ही विषय-भोग भोगते समय तो आह्लादक, रमणीय, आकर्षक और प्रीतिमय प्रतीत होते हैं, परन्तु उनका परिणाम घोर विषाद, अनन्त पीडा और नाना जन्म-मरण के रूप मे प्राप्त होता है। विषय-भोग आत्मा के समस्त गुणो के लिए हलाहल विष का काम करते है। भोगासक्त व्यक्तियो को जन्म-जन्मान्तरो तक भी मुक्ति प्राप्त नही हो सकती। वह कभी भी जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नही पा सकता। कहते हैं —

"तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यस्तरेत् सागरम् ।"

—सवेगद्रुमकन्दली

अर्थात् जो भोगो मे पूर्ण रूप से अनुरक्त हैं, उनका इन्द्रिय-निग्रह उसी प्रकार असभव है जिस प्रकार विन्ध्याचल पर्वत का सागर मे तैरना ।

किन्तु जैसा कि मैंने अभी कहा था, संसार मे भोगवृत्ति और त्यागवृत्ति दोनो ही विद्यमान रहती हैं । अगर एक ओर भोगो मे आसक्त अनेकानेक मानव दृष्टिगोचर होते है तो दूसरी ओर भोगो से विरत और त्यागवृत्ति मे अनुरक्त महान् पुरुष भी पाए जाते है —

"कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्या ।"

यानी काम-वासना के अहकार को, अथवा दूसरे शब्दो मे भोग की भयानक शक्ति को चूर करने वाले विरले महापुरुष होते हैं ।

ऐसे वीर पुरुष वासनाओ तथा भोग-लिप्साओ पर विजय प्राप्त कर लेते है और ससार के समस्त भोगो से विमुख होकर विरक्त बन जाते है । वे त्यागवृत्ति को अपनाकर अपनी आत्मा के उत्थान की साधना मे निमग्न रहते हैं । उनके अन्तस्तल मे निरन्तर यह ध्वनि गूँजती रहती है —

"त्याग एव हि सर्वेषां मोक्ष-साधनमुत्तमम् ।"

समस्त भोगो का त्याग करना ही प्राणियो की मुक्ति का उत्तम साधन है ।

जन्म-जन्मान्तर के मोहनीय सस्कारो पर विजय प्राप्त कर लेना साधारण बात नही है । इसके लिये अत्यन्त गम्भीर एव सतत चलने वाली साधना की आवश्यकता है । विषय-भोगो के प्रबलतम आकर्षण से छुटकारा पाने के लिये बडी भारी शक्ति चाहिये । त्यागवृत्ति को धारण करने के लिये असीम साहस की और उसे जीवनपर्यंत निभा सकने के लिये अचल विरक्ति तथा दृढसकल्प की आवश्यकता होती है । त्यागवृत्ति को अपनाकर उसके अनुरूप चलने के लिये अत्यन्त कठोर चर्या का अनुसरण करना होता है । बड़ी-बडी कठिनाइयो का तथा संकटो का सामना करना पडता है । त्याग का मार्ग सरल और सीधा नही वरन् अत्यन्त कण्टकाकीर्ण होता है ।

त्याग का अर्थ होता है "छोडना ।" बहुत-से व्यक्ति दान को ही त्याग समझ लेते है । और थोडा-बहुत दान देकर अपने को त्यागियों की श्रेणी में मान लेते हैं । यह सत्य है कि दोनो परस्पर विरोधी नही हैं । त्याग और दान

दोनो ही धर्म के पूरक हैं । दोनो ही मनुष्य को ऊँचाई के शिखर पर ले जाने वाले हैं । फिर भी दोनो मे अन्तर है । त्याग का निवास अगर धर्म के शिखर पर है तो दान का उसके ललाट पर । त्याग पाप रूपी वृक्ष की जड पर ही आघात करता है किन्तु दान ऊपर ही ऊपर की कोपलें खोटता है । हम यह भी कह सकते है कि त्याग से पाप का मूल धन चुक जाता है, जबकि दान से पाप का ब्याज चुकाया जा सकता है ।

सक्षेप मे कहा जाय तो त्याग का महत्त्व दान की अपेक्षा अधिक है । दान करने वाला व्यक्ति हृदय मे यह समझता है कि यह वस्तु मेरी है और मैं इसे दूसरे को दे रहा हूँ । किन्तु त्यागी व्यक्ति यह विचार करता है कि मेरा क्या है ? कुछ भी नही । यह विचार करके वह अपार वैभव और समस्त स्वजन-परिजनो को छोडकर चल देता है । वह यह नही सोचता कि मेरे पीछे इस सम्पत्ति की रक्षा करने वाला कोई है या नही ! वह अपने समस्त वैभव को उपेक्षा की निगाह से देखता है और शीघ्रातिशीघ्र उसे छोड देने की कामना करता है । छोड देने के बाद उसे पीछे फिरकर देखना भी नही चाहता ।

जिस प्रकार सर्प अपने शरीर पर चढी हुई कचुली को कष्टकर मानता है और किसी कॉंटे, झाड-झखाड आदि मे उलझकर उससे सुलझ जाने पर एक बार भी उसकी ओर नही देखता तथा शीघ्र ही वहाँ से पलायन कर जाता है । क्योकि ऐसा कहा जाता है कि उसके शरीर पर जब तक वह कचुली रहती है तब तक वह अवा रहता है । इसलिये उससे मुक्त होते ही इधर-इधर भागता है ।

त्यागी पुरुष भी धन, सपत्ति तथा मोह-ममता को आत्मिक ज्ञान का आवरण मानते हैं । और शीघ्रातिशीघ्र उससे मुक्त होकर आत्मानन्द मे रमण करके शाश्वत सुख पाने के लिए भाग खडे होते हैं ।

हृदय मे पूर्ण रूप से त्यागवृत्ति का जागृत हो जाना कोई सहज बात नही है । इसके लिये अति दृढ मनोबल की आवश्यकता है । ससार के कर्मों मे से अनेक तो शारीरिक बल से, अनेक बुद्धिबल से और अनेक मनोबल से सिद्ध होते हैं किन्तु त्याग की साधना के लिये इन तीनो के सयोग की अनिवार्य आवश्यकता होती है । निर्बल आत्माएँ इस वृत्ति को नही अपना सकती । क्योकि त्यागवृत्ति फूलो का नही वरन् काँटो का मार्ग है । सुकर नही, अत्यन्त दुष्कर है ।

त्यागवृत्ति एक ऐसी कसौटी है जिसपर मनुष्य का धैर्य, साहस, सयम शाति तथा सतोष सभी कसा जाता है। इस कसौटी पर अत्यन्त दृढ मनोबल रखने वाले व्यक्ति ही खरे उतर सकते हैं। प्रथम तो त्याग वही कर सकता है, जो ममत्वभाव से मुक्त हो गया हो। किसी भी भौतिक वस्तु के प्रति उसकी आसक्ति न हो। दूसरे, जो व्यक्ति आतरिक विकारो का नाश कर सकते हो तथा इन्द्रियो पर सयम रख सकते हो वही त्याग का महत्त्व समझ कर उसे अपना सकते हैं। तीसरे, शरीर के प्रति रचमात्र भी मोह-ममता न रखने वाले पुरुष त्यागी बन सकते है। त्यागी मनुष्य को शरीर सम्बन्धी अनेक उपसर्ग और परिषह समय-समय पर भोगने पडते है तथा कभी तो प्राणो का परित्याग भी करना होता है। इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए त्याग के कई प्रकार जैनधर्म मे बताए गए है। स्थानाग सूत्र मे कहा गया है —

"चउव्विहे चियाए पण्णत्ते तंजहा-मणचियाए, वयचियाए, कायचियाए, उवगरणचियाए।"

—स्थानाग सूत्र, अध्ययन ४

सूत्र मे चार प्रकार के त्याग बताए गए है। (१) मन (२) वचन (३) काय और (४) उपकरण का त्याग। इन चारो प्रकारो से जब त्याग किया जाता है तभी वह सच्चा त्याग कहला सकता है।

मन से त्याग करने का तात्पर्य है मन के विकारो का त्याग करना। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष तथा ईर्ष्या आदि का त्याग करना मन से किया जाने वाला त्याग कहलाता है। बाह्य रूप मे अगर भौतिक वस्तुओ का त्याग कर दिया जाय किन्तु मन की इन दुर्वृत्तियो का त्याग न किया जाए तो वह त्याग सम्पूर्ण नही कहलाएगा। वह अधूरा त्याग होगा।

शास्त्रो मे बताया गया है कि शुभ और अशुभ भावनाओ की उत्पत्ति का स्थान हमारा मन है। मन मे अगर अशुभ भावनाओ की विद्यमानता रही तो जीव एक समय (काल के सूक्ष्मतम भाग) मे हो अनन्तानन्त अशुभ परमाणुओ का बध कर लेता है और अगर भावनाएँ शुभ हुईं तो उसी काल मे अनन्तानन्त शुभ परमाणुओ का बध हो सकता है।

जब तक हमारा मन मलीन भावनाओ से भरा हुआ है, भाँति-भाँति की कामनाओ से व्याकुल है, उसमे क्रोध का सचार होता है, अत्यधिक परिग्रह होने पर भी सतोष नही हो पाता, लोभ बना ही रहता है और धन-वैभव की अधिकता के कारण अहकार की लहरे उठा करती हैं, मोह से पागल रहता है,

तब तक त्यागी का बाना पहनना भी त्याग का उपहास करना है। जब तक हम दूसरो की थोडी-सी भी उन्नति को देखकर ईर्ष्या से जल उठते हैं, दूसरो के अच्छे कर्मों मे भी दोष निकालते रहते हैं, बात-बात मे झूठ और कपट का आश्रय लेते हैं, तब तक हमारा त्यागी बनने का ढोग करना व्यर्थ है।

आज समस्त विश्व कषायो की आग मे जल रहा है। प्रत्येक प्राणी मन के विरुद्ध किसी परिस्थिति के उत्पन्न होते ही दु'ख और क्रोध से पागल बन जाता है और दूसरो के अनिष्ट का चिन्तन करने लगता है। परिणाम यह होता है कि वह औरो का अनिष्ट न भी कर पाए पर स्वय अपना अनिष्ट तो कर ही लेता है। श्रीकृष्ण ने कहा भी है —

क्रोधाद् भवति समोह
समोहात्स्मृतिविभ्रम ।
स्मृतिभ्रशाद् बुद्धिनाशो,
बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

—'गीता'

अर्थात् क्रोध से मूढता उत्पन्न होती है, मूढता से स्मृति भ्रात हो जाती है, स्मृति भ्रात होने से बुद्धि का नाश होता है, और बुद्धि नष्ट होने पर प्राणी स्वय ही नष्ट हो जाता है।

और अन्त मे उसका परिणाम पश्चात्ताप की आग मे जलना होता है। क्रोध एक ऐसी आधी है कि जब आती है, हृदय के समस्त विवेक को नष्ट कर डालती है। एक अग्रेज़ विचारक ने कहा है —

"Anger blows out the lamp of mind"

—क्रोध मन के दीपक को बुझा देता है।

क्रोध समस्त दूषित भावनाओ की जड है। इसके कारण ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, अविवेक, दु ख और भय सभी पनपने लगते हैं। क्रोध के कारण मन की समस्त सद्भावनाएँ विकृत हो जाती है और वह मनुष्य को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने के बजाय अवनति के गढे मे ढकेल देता है।

इसके विपरीत जो महापुरुष क्रोध को जीत लेते हैं, उनके हृदय से ईर्ष्या द्वेष तथा मानापमान की दूषित भावनाएँ तिरोहित हो जाती हैं। उसमे धैर्य तथा क्षमा का साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

एक बार किसी गृहस्थ के यहाँ एक अतिथि आया। उसने समस्त वस्त्र

काले पहन रखे थे। गृहस्थ ने इसे अमंगल-सूचक समझा और [illegible]साजी से कहा—तुमने ये काले वस्त्र क्यो पहन रखे है ?

अतिथि ने उत्तर दिया—मेरे काम, क्रोध आदि मित्रो की मृत्यु हो गई है। उन्ही के शोक मे मैंने काले वस्त्र धारण किये हैं।

गृहस्थ ने क्रोध के कारण उसी समय अपने भृत्य को आदेश दिया कि इस अतिथि को तुरन्त घर से बाहर निकाल दो। नौकर ने आज्ञा का पालन किया और अविलम्ब अतिथि का घर से निष्कासित कर दिया।

गृहस्थ ने थोडी देर के बाद न जाने क्या सोचकर उस व्यक्ति को पुन बुलवाया, और फिर निकलवा दिया। इस प्रकार सत्तर बार उसने उस मेहमान को बुलवाया और बाहर निकलवाया। लेकिन परम आश्चर्य की बात थी कि अतिथि के चेहरे पर क्रोध की तनिक भी छाया नही पडी थी और उसका चेहरा पूर्ववत् मुस्कान से भरा रहा।

अन्त मे गृहस्थ उस व्यक्ति के पैरो पर गिर पडा और हाथ जोडकर अत्यन्त विनयपूर्वक बोला—आप सचमुच क्षमावान् हैं। मैंने आपको क्रुद्ध करने की बहुत कोशिश की किन्तु आप बिल्कुल शात रहे। वास्तव मे आपने क्रोध पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है।

अतिथि पूर्ववत् मुस्कराता हुआ सस्नेह बोला--बधु ! बस करो, बस करो ! ज्यादा प्रशसा मत करो। मुझसे ज्यादा सहनशील कुत्ते होते हैं जो हजार बार बुलाने और दुत्कारने पर भी बार-बार आते और जाते रहते है।

बधुओ ! सच्चा त्यागी इस प्रकार अपने मन के विकारो का त्याग करता है। किसी भी परिस्थिति मे वह आपे से बाहर नही होता। कितना भी उसका अपमान हो, वह मन मे कषाय को स्थान नही देता। दोषो और कषायो से रहित ऐसी भावना ही मुक्ति का मार्ग है, ऐसा महान् पुरुषो का कथन है।

कहते हैं एक बार एक व्यक्ति सन्त मेकेरियस के पास आकर अत्यन्त विनयपूर्वक बोला—महात्मन् ! मुझे मुक्ति का मार्ग बताइये। सन्त ने कहा—आज तुम जाओ और कब्रिस्तान मे जाकर सब कब्रो को गालियाँ देकर आओ।

उस आदमी ने वैसा ही किया और कब्रिस्तान मे जाकर सब कब्रो को गालियाँ देकर लौटा। दूसरे दिन सन्त ने उससे कहा—आज तुम पुन जाओ और सारी कब्रो की स्तुति करके आओ। आदमी सन्त की बात से चकित हुआ किन्तु उसने सन्त से एक भी प्रश्न नही किया और सीधा कब्रिस्तान जा

पहुँचा। वहाँ जाकर उसने कब्रो की स्तुति की और वहाँ काफी समय बिताकर वापिस लौटा।

तीसरे दिन वह पुन सत मेकेरियस के समीप पहुँचा और मुक्ति का मार्ग पूछने लगा। सत ने बडे स्नेह से कहा—भाई, क्या किसी कब्र ने तेरी गाली अथवा स्तुति का कोई जवाब दिया ?

व्यक्ति बोला—भगवन् ! किसी ने कोई उत्तर नही दिया।

तब सत बोले—बस, तू भी ससार मे इसी प्रकार मान और अपमान पर ध्यान न देते हुए ससार से अलिप्त रह। यही मुक्ति का सच्चा मार्ग है।

कहने का तात्पर्य यही है कि मन पर सयम रखना, उसमे उठने वाले विकारो का तथा क्रोध आदि कषायो का त्याग करना ही मन से त्याग करना है अत त्यागी को सर्वप्रथम दुर्गुणो का त्याग करना चाहिए।

मन ही मनुष्य को दुर्बुद्धि या सुबुद्धि वाला बनाता है। मन की अवस्थाओ के कारण ही एक व्यक्ति सज्जन कहलाता है और दूसरा दुर्जन। मन मे ऐसी विचित्र शक्ति है कि जो व्यक्ति उसके प्रति असावधान होते है उन्हे वह अविलब अपने अधीन कर लेता है। वह मनुष्य को अपना दास बनाकर अपनी इच्छानुसार चलाता है। परिणाम यह होता है कि मन के सकेत पर चलता हुआ व्यक्ति अपना घोर अनिष्ट कर लेता है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति मन पर पूर्ण नियत्रण रखते हैं, उनका मन ससार के समस्त हितैषियो की अपेक्षा भी अधिक भला करता हुआ प्राणी को ससार से मुक्त कर देता है। महात्मा बुद्ध ने कहा है —

दिसो दिस यत कयिए, वेरी वपन वेरिन।
मिच्छा पणिहित चित्त, पापियो न ततो करे॥
न त माता, पिता कयिए, अज्जे वापि च जातका।
सम्मा पणिहित चित्त सेय्यसो न ततो करे॥

— धम्मपद

अर्थात् द्वेषी द्वेष करने वाले के साथ और वैरी वैर करनेवाले के साथ जो कुछ करता है, उससे भी अधिक हानि, उच्छृखल (वश मे न किया हुआ) मन करता है। और माता-पिता या सजातीय जन किसी का जो हित करते हैं, उससे भी अधिक हित वश मे किया हुआ मन करता है।

असयत मनवाला साधक ध्यान, साधना, उपासना, चिंतन तथा मनन

किसी भी क्रिया को सही तरीके से नही कर सकता। भले ही वह निर्जन स्थान मे, कोलाहल से दूर किसी अधेरी गुफा मे जा बैठे जहाँ कि कोई अन्य प्राणी उसकी साधना मे विघ्न न डाल सके, फिर भी वह शातिपूर्वक साधना नही कर सकता। क्योकि उसका मन अपने कुसस्कारो की सेना के साथ ही रहता है। वह राक्षसी सेना साधक पर आक्रमण करके उसे चचल और अस्थिर बना देती है। उसकी साधना एक ओर रह जाती है।

इसके विपरीत, सयत मन वाले व्यक्ति निर्भीक होते हैं। और वे काम-विकारो तथा कषायो के द्वारा कभी परास्त नही होते। सयत पुरुष को कोई भी प्रलोभन आकर्षित नही कर सकता। लालसाये उसे डिगा नही सकती। दु:ख, सताप, आधि, व्याधि से वह व्याकुल नही होता। क्रोध की अग्नि उसके शात हृदय-सर मे आकर बुझ जाती है। लोभ का आक्रमण उसके सतोपी मन पर प्रहार नही करता। मद और मान उसकी विनयी-प्रकृति मे हलचल नही मचाते। राग और द्वेष उसकी दृढता को चलायमान नही कर सकते। ऐसे व्यक्ति ही सच्चे त्यागी कहलाने के अधिकारी होते है।

मन के साथ ही वचन से भी सयम रखने की आवश्यकता होती है। अशुभ तथा किसी को भी चोट पहुचाने वाले शब्दो का त्याग करना साधक के लिये अनिवार्य है। शस्त्र के द्वारा शरीर को जो चोट पहुँचती है वह तो अल्प समय मे ही ठीक हो जाती है किन्तु कटुवचनो के द्वारा मन को जो चोट पहुचती है वह कभी भी मिट नही सकती। पचतत्र मे कहा गया है —

"वचो दुरुक्तं बीभत्स न प्ररोहति वाक्क्षतम्।"

अर्थात् कटुक, घृणास्पद और मर्मघातक शब्द बोलने से हृदय मे जो घाव उत्पन्न होता है, उसका पुन भरना लगभग असभव-सा ही है।

विवेकशील पुरुष अपने वचनो का प्रयोग अत्यन्त सावधानी पूर्वक करते हैं। वे जानते है कि किसी को कटुवाक्यो के द्वारा दुखी करना या किसी के मन को चोट पहुचाना हिंसा है। और इस हिंसा से बचने के लिये वे अपने वचनो पर पूरा नियत्रण रखते हैं।

वाणी वास्तव मे मनुष्य के हृदय का दर्पण होती है। इस दर्पण के द्वारा मनुष्य का अतस्थल देखा जा सकता है। जिस व्यक्ति के हृदय मे कषायो की तीव्रता रहती है, उसके वचनो मे मधुरता नही आ सकती। परिणाम यह होता है कि वह अपने मित्रो तथा हितैपियो को दुश्मन बना लेता है। कौरवो और पाडवो के बीच जो महाभारत हुआ था उसका मूल द्रौपदी के कटु वचन

ही तो थे। आज भी हम देखते हैं कि दुर्वचनो के कारण मनुष्य आपस मे झगड पडते हैं, हाथापाई हो जाती है और अनेक बार व्यक्ति की जान भी चली जाती है।

इसके विपरीत, जो मृदुभाषी व्यक्ति होता है, वह दुश्मन को अपना दोस्त बना लेता है। मृदु वचन क्रोध को शाति तथा स्नेह मे बदल लेते हैं। एक बार एक सन्यासी भूल से किसी भगी से छू गए। क्रोध से आगबबूला होकर वे बोले - अधा हो गया है क्या ? देखकर नही चलता ! मुझे छू दिया। इस सर्दी मे मुझे फिर से स्नान करना पडेगा।

भगी हाथ जोडकर अत्यन्त नम्रता पूर्वक बोला—महाराज ! स्नान तो अब मुझे भी करना पडेगा।

सन्यासी चकित हुए और नाराजी से बोले—तुझे स्नान किसलिये करना पडेगा ?

भगी मृदुता से बोला—भगवन्, सबसे ज्यादा अपवित्र और अस्पृश्य चाडाल तो क्रोध है। उसने आपके अन्दर प्रवेश करके मुझे छू लिया है। इसलिये मुझे नहाकर पवित्र होना पडेगा।

भगी की मृदुता, विनय और वाक्पटुता मे संन्यासी बडे प्रभावित हुए। वे शर्म से पानी-पानी हो गए और उन्होने भगी से क्षमायाचना की।

नम्रता और प्रेमपूर्ण व्यवहार से मनुष्य तो क्या देवता और पिशाच भी वश मे हो जाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन की टीका मे कहा है—

एक बार कृष्ण महाराज, बलदेव, सत्यक और दारुक के साथ जगल मे भ्रमण करने गए। घूमते-घूमते उन्हे काफी देर हो गई और वे बहुत दूर निकल गए। रात हो गई। चारो ने विचार किया कि आज की रात्रि इसी वन मे व्यतीत की जाए।

वे सब एक वृक्ष के नीचे आ बैठे। उन्होने तय किया कि हममे से बारी-बारी से एक व्यक्ति जागता रहे और शेप सो जाए। सर्वप्रथम दारुक जागा और तीनो सो गए। इसी समय एक पिशाच वहाँ आया और बोला—भाई ! मुझे बडी तीव्र क्षुधा सता रही है। इन तीनो व्यक्तियो को खाकर मुझे पेट की आग बुझा लेने दो।

दारुक ने कहा—यह कैसे हो सकता है ? इन तीनो की रक्षा के लिये ही तो मैं पहरा दे रहा हूँ। मेरे देखने हुए तू इन्हे नही खा सकता। अगर खाना

ही चाहता है तो इनका भक्षण करने से पहले मुझे परास्त कर।

इस पर पिशाच दारुक से लडने के लिये तैयार हो गया। ज्यो-ज्यो दारुक का रोष बढता गया त्यो-त्यो पिशाच का बल भी बढता गया। किन्तु दारुक ने हिम्मत नही हारी और बलवान् पिशाच को अन्त मे परास्त कर भगा दिया। इतने मे ही दारुक का समय पूरा हो गया और सत्यक की जागने की बारी आ गई। थका हुआ दारुक सो गया और सत्यक पहरा देने लगा।

कुछ समय पश्चात् पिशाच पुन लौटा और सत्यक से भी उसने वही कहा। किन्तु सत्यक भी वीर था। उसने पिशाच को बाकी तीन व्यक्तियो को भक्षण करने की आज्ञा देना तो दूर, उससे लडना शुरू कर दिया। बलवान् पिशाच को वह परास्त तो नही कर सका पर भागने को बाध्य अवश्य कर दिया। सत्यक भी लहूलुहान हो गया था। अत समय पूरा होते ही वह क्लात होकर सो गया।

तीसरी बार बलदेव की बारी आई। उनके साथ भी यही घटना घटी। पिशाच आया और लड-भिडकर फिर चल दिया। थककर चकनाचूर हुए बलदेव को अपनी बारी का समय पूरा होते ही निद्रा आ गई और अन्त मे कृष्ण पहरा देने के लिए तैयार हो गए।

जब श्रीकृष्ण पहरा दे रहे थे तब पिशाच फिर चौथी बार लौटकर आया। दोनो का युद्ध शुरू हुआ। कृष्ण शात होकर खडे हो गये। पिशाच का बल जैसे-जैसे बढता गया कृष्ण शाति मे उसे कहते रहे—शाबाश ! तू बडा वीर है ! तेरी माता धन्य है, जिसने ऐसा वीर पुत्र पैदा किया। कृष्ण जितनी शाति से उससे बात करते रहे, पिशाच का बल भी उतनी ही तेजी से कम होता गया। और वह इतना निर्बल हो गया कि कृष्ण ने उसे उठाकर अपनी जेब मे डाल लिया।

बधुओ ! यह कथानक तो एक रूपक है। इसका अभिप्राय यही है कि क्रोध वस्तुतः पिशाच है। जब उसे क्रोध का बल मिलता है तो वह तेजी से बढता है किन्तु स्नेहपूर्ण मृदुवचनो से वह शात और कमज़ोर बन जाता है। कृष्ण की शाति से वह निर्बल हो गया था।

प्रात काल जब सब उठे तो देखा कि कृष्ण के अलावा तीनो व्यक्तियो के शरीर क्षत-विक्षत हो रहे थे और चोटे खाकर लाल-लाल हो गए थे। कृष्ण ने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होने कहा कि हम रात को एक पिशाच से लड़े थे। इसलिए हमारे शरीर लहू से लाल हो रहे है।

तब श्रीकृष्ण ने कहा—भाई ! पिशाच भयकर नही होता । अगर उसे हम बल न दें तो वह निर्बल हो जाता है । अगर हम उसके विरुद्ध रोष करें तो वह अधिकाधिक बलवान् बनता जाता है । तुम लोगो ने उस पर रोष किया अत उसको बल मिल गया । मैंने उसपर रोष नही किया तो वह इतना निर्बल हो गया है कि इस समय वह मेरी जेब मे ही है और अब मेरा दास बन गया है ।

तात्पर्य यह है कि क्रोधी व्यक्ति के सामने भी क्रोध न करके अगर मधुर व्यवहार किया जाय, मृदु-वचनो से उसे समझाया जाय तो वह क्रोध को अधिक समय तक नही टिका सकता । वह शीघ्र ही शात हो जाता है । कबीर ने इसीलिए कहा है —

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय ।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय ।।

वास्तव मे वचनो का प्रयोग इसी प्रकार करना चाहिए कि किन्ही शब्दो द्वारा किसी भी व्यक्ति का हृदय न दुखे, किसी को तनिक भी चोट न पहुँचे। जो मनुष्य मृदुता के सद्‌गुण से शोभायमान रहता है, वह प्रथम तो बोलता ही बहुत कम है । और जब बोलता है तो उसकी वाणी से सभी को आह्लाद का अनुभव होता है ।

एक बात और भी ध्यान मे रखने की है । वह यह कि कषाय का प्रभाव तो कुछ समय बाद ही पडता है, बहुत दिनो तक वैर मन मे सचित रह सकता है, किन्तु वचनो का प्रभाव सुनने वाले पर क्षण भर मे ही पड जाता है । कटु वचन वह शस्त्र है जो मुह से निकलते ही हृदय को आहत कर देता है । इसलिये बुद्धिमान् पुरुष अपनी जिह्वा को अति सावधानीपूर्वक काम मे लेते हैं । सर्वदा पूर्णरूप से ध्यान रखते हैं कि मैं कभी किसी के मन को दुखाकर हिंसा का भागी न बन जाऊ । यह विचार कर वह वाचनिक हिंसा का त्याग करता है ।

तीसरे प्रकार का त्याग काया से किया जाने वाला बताया गया है । मनुष्य को अपने शरीर के द्वारा होने वाली समस्त अशुद्ध तथा क्रूर क्रियाओ का त्याग करना चाहिये । जिस प्रकार मन के अशुभ परिणामो का तथा जिह्वा के दुर्वचनो का त्याग करना आवश्यक है उसी प्रकार शरीर के द्वारा भी दूसरो के मन को दुखाने वाले कर्मों का त्याग करना सच्चे त्यागी के लिये अनिवार्य है । शरीर के द्वारा किसी को मारना, पीटना, बाँधना अथवा वध

करना ये हिंसापूर्ण कार्य मनुष्य को दुर्गति की ओर ले जाते है। जिस शरीर मे आत्मा जैसी पवित्र वस्तु का निवास है, उसके द्वारा हिंसक कृत्यो को करना शरीर की पवित्रता का नाश करना है। धर्मसाधन करके कर्मों का नाश करने के लिये पुरुपार्थ करने मे ही शरीर की सार्थकता है।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

इसलिये अशुभ कृत्यो द्वारा इसका दुरुपयोग करना घोर मूर्खता है। मोक्षमार्ग की साधना करके आत्म-कल्याण करने की अभिलाषा रखने वाला त्यागी साधक अपने शरीर को भोग विलासो मे अथवा अन्य प्राणियो को दु ख और कष्ट पहुंचाने मे नष्ट नही करता। उसको ससार के सभी प्राणी आत्म-वत् प्रतीत होते है। उसका मन कदापि यह सहन नही करता कि दूसरे व्यक्ति शीत और ताप सहन करें और वह इनके निवारण के साधनो का अम्बार लगा ले। अन्य व्यक्ति भूखे मरे और वह स्वय अपने गोदाम ठसाठस भर ले।

आज हम अनेक पूँजीपतियो को देखते है जो हजारो व्यक्तियो के पेट की रोटी छीनकर अपनी तिजोरियाँ भर लेते है। इतने पर भी उनका हृदय सतुष्ट नही होता। उनकी तृष्णा शात नही होती। ऐसे लालची व्यक्तियो के लिये ही हमारे शास्त्र कहते है—

सव्वं जगं जइ तुह, सव्व वा वि धण भवे।
सव्व पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, १४-३९

अर्थात् यदि सारा ससार और सारे ससार का धन तेरा हो जाय तो भी वह तेरे लिये अपर्याप्त ही रहेगा। उससे भी तेरी रक्षा होनेवाली नही है।

इसमे रचमात्र भी सन्देह नही कि परिग्रह से कभी भी तृप्ति नही होती। परिग्रह के लिये मनुष्य हत्या करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है। कहाँ तक गिनाया जाय, सक्षेप मे यही कि कोई भी छोटा अथवा बडा पाप नही जिसे धनलोलुप न करता हो। किन्तु क्या वह धन उसे मृत्यु के मुख मे जाने से बचा सकता है ? क्या वह धन उसे कृत-कर्मों के फल भोगने से छुटकारा दिला सकता है ? नही ! इकट्ठा किया हुआ वह धन न यमराज से ही मनुष्य की रक्षा कर सकता है और न कर्मो से बचाव कर सकता है।

ससार मे अनेक महान् व्यक्ति ऐसे हुए है जो ससार का कार्य करते हुए भी सासारिक भोग-विलासो से और धन,-वैभव से अलिप्त रहे हैं। सुलतान

नासिरुद्दीन वडे ही धर्मनिष्ठ तथा स्वावलम्बी पुरुष थे। सम्राट् होकर भी वह अपने ऐश्वर्य को अपना नही वरन प्रजा का समझते थे। राजकोष से वह अपने खर्च के लिये एक पैसा भी नही लेते थे। अपने हाथो से किताबो की नकलें करके उससे गुजर करते थे।

एक बार उनकी बेगम, जो रसोई अपने हाथो से ही बनाया करती थी, बोली—जहाँपनाह! आप सुलतान है, आपके पास किस चीज की कमी है? कृपा करके एक नौकरानी तो रख दीजिये। खाना पकाते समय कितनी ही बार मेरी अगुलियाँ जल जाती है।

बादशाह अपनी बेगम से सस्नेह बोले—मलका! शाही खजाने पर मेरा क्या अधिकार है? वह तो प्रजा की सपत्ति है। मेरी कमाई तो तुम जानती हो कि बहुत सीमित है। अब तुम्ही बताओ इतनी थोडी सी आय मे नौकरानी कैसे रखी जा सकती है?

ऐसे होते हैं निस्पृह और त्यागी पुरुष! वे असीम वैभव के अधिपति होते हुए भी उसमे आसक्त नही रहते, उसे अपना नही मानते और समय पाते ही ठुकरा कर चल पडते हैं। सेठ धन्नाजी ऐसे ही एक महापुरुष थे।

एक दिन धन्नाजी स्नान कर रहे थे। उनकी आठ पत्नियाँ थी और वे सभी उस समय उनकी सेवा मे व्यस्त थी। उनमे एक सुभद्रा भी थी। वह कुछ समय पहिले पीहर से लौटी थी। सुभद्रा के भाई सेठ शालिभद्र उन दिनो ससार से विरक्त होकर सयममार्ग अपनाने की तैयारी कर रहे थे। प्रतिदिन अपनी बत्तीस पत्नियो मे से एक-एक पत्नी का त्याग करते जा रहे थे।

सुभद्रा स्नान करते हुए धन्नाजी के पृष्ठभाग की ओर थी। यकायक उसे अपने भाई शालिभद्र का स्मरण आ गया। उसकी आँखो से अश्रु ढुलक पडे। आँसुओ की गरम-गरम बूदे धन्नाजी की पीठ पर गिरी। उन्होने पीछे मुडकर सुभद्रा को रोते हुए देखा तो विस्मित होकर पूछा—तुम रो क्यों रही हो? क्या कारण है असमय मे अश्रुपात करने का?

सुभद्रा सविनय स्वामी से बोली—देव! और कोई भी दुख मुझे नही है, मेरे भाई शालिभद्र दीक्षा लेने वाले हैं और प्रतिदिन अपनी एक-एक पत्नी का त्याग करते जा रहे हैं। उनका स्मरण आ गया। इसी दुख के कारण मेरे नेत्रो मे अश्रु छलक आए हैं।

धन्नाजी ने यह बात सुनी और उनके मन मे विचार आया कि त्याग

ही करना है तो फिर थोडा-थोडा क्यो ? एक साथ ही सब कुछ त्याग देना चाहिये । उनके मुख से यही उद्‌गार निकल पडे । बोले —सुभद्रा ! तुम्हारे भाई दीक्षा ले रहे हैं यह तो बहुत ही उत्तम है । इसमे दु ख करने की क्या बात है ? किन्तु एक-एक दिन मे एक-एक ही पत्नी का त्याग भी कोई त्याग है ? जब त्यागना ही है तो वीर पुरुष को तो एक बार ही सब कुछ त्याग देना चाहिए ।

सुभद्रा पति के इन वाक्यो से मर्माहत हो गई । दु ख के आवेश मे वह अपने शब्दो पर नियत्रण नही रख सकी और बोल उठी— आर्य ! कैसी बात कर रहे है आप ? मेरे भाई वीर हैं तभी तो अपार वैभव और स्वजन, परिजन, पत्नी आदि सभी को छोड रहे है । कायर होते तो त्याग की बात ही करते, त्याग न करते ।

धन्नाजी को पत्नी सुभद्रा की बात मे व्यग्य का आभास हुआ । वह अन्त.करण मे चुभती गई । उन्होने सोचा-सुभद्रा के वचनो मे मेरे लिये तिरस्कार और चुनौती है । क्या ससार का त्याग करना इतना कठिन है कि मैं नही कर सकता ? मैं इसी समय कर देता हू ।

यह विचार आते ही धन्नाजी उठ खडे हुए और बोले– सुभद्रा, मैं इसी क्षण अपना समस्त वैभव, माता-पिता, स्वजन-परिजन तथा तुम आठो का परित्याग कर रहा हू । तुमने मेरे ज्ञान-चक्षु खोल दिये है । मै तुम पर तनिक भी नाराज़ नही हू वरन् तुम्हारा अत्यत कृतज्ञ हूँ कि तुमने मेरे आत्मकल्याण का मार्ग मुझे सुझा दिया । तुम मेरी गुरु हो ।

इतना कहकर वीर धन्नाजी उसी समय घर से बाहर चल दिये और अपने साले श्री शालिभद्र के पास जा पहुचे । उनसे बोले—भाई ! क्या एक दिन मे एक-एक पत्नी को छोडकर त्याग का आदर्श उपस्थित कर रहे हो ? देखो मैं तो अपनी आठो पत्नियो को तथा समस्त परिवार और ऐश्वर्य को एक साथ ही त्याग कर चला आया हूँ । चलो ! हम दोनो साथ ही सयम ग्रहण कर लें । यह सुनते ही शालिभद्र भी उसी समय अपने बहनोई के साथ चल दिये और दोनो ने साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली ।

कहने का मतलब यही है, बधुओ ! कि जो महापुरुष त्यागवृत्ति को अपना लेता है, वह समस्त सासारिक वस्तुओ को क्षणमात्र मे त्यागने मे भी समर्थ बन जाता है । इसके विपरीत, अधम पुरुष अपने जीवन एव शरीर का उपयोग धन कमाने मे और उसके उपभोग मे करते है । और कोई भी कार्य

उन्हें अपनी काया से करने योग्य दिखाई नही देता। धन ही उनका भगवान् और उसकी आराधना ही उनका जीवन-लक्ष्य बन जाता है।

धन बटोरते समय उन्हे यह ध्यान नही रहता कि मेरा इकट्ठा किया हुआ धन कितने गरीवो के पेट काट रहा है और भरपेट भोजन भी न मिलने के कारण कितने व्यक्ति अनीति की राह पर चलने लगे हैं। जब तक मनुष्य को भरपेट भोजन नही मिलेगा तब तक वह कैसे भगवान् का भजन कर सकेगा ! किस प्रकार धार्मिक क्रियाओ मे मन को रमा सकेगा ? कहावत है—

भूखे भजन न होई गुपाला।
यह लो अपनी कठी माला॥

भूखे व्यवित को अगर कोई मनुष्य उपदेश देने बैठ जाए तो क्या उसे रुचेगा ? कभी नही। क्षुधा शात होने पर ही मनुष्य पर धर्मोपदेश का भी असर होगा। इसलिये अगर हम चाहे कि धर्म प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण मे पनपे और अपना स्थान वनाए तो सर्वप्रथम धनी व्यक्तियो को धन का मोह छोडकर यथाशक्ति उसका त्याग करना चाहिये। कम से कम अनीति से तो धन नही ही वटोरना चाहिए।

कहते हैं कि एक वार महात्मा बुद्ध श्रावस्ती से तीस योजन चलकर एक ग्वाले को उपदेश देने गए, क्योकि वह अत्यन्त जिज्ञासु था। ग्वाला साय-काल के समय बैलो को चराकर घर लौट रहा था किन्तु जव उसने बुद्ध के आगमन का समाचार पाया तो उसी समय विना कुछ खाये-पीये बुद्ध भगवान् की सेवा मे जा पहुचा।

जव बुद्ध को यह ज्ञात हुआ कि ग्वाला सारे दिन का भूखा है तो उन्होने अपने एक शिष्य को आज्ञा दी कि वह ग्वाले की क्षुधा शात करे। जव वह भोजन कर चुका तो बुद्ध ने उसे चार आर्यसत्यो का उपदेश दिया। उसे सुनकर ग्वाला भिक्षुसघ मे सम्मिलित हो गया।

जब बुद्ध के अन्य शिष्यो को ग्वाले को भोजन कराने की बात ज्ञात हुई तो वे आपस मे कहने लगे—गुरुदेव किसी और को तो अपने पात्र मे से खिलाते-पिलाते नही, फिर ग्वाले को ही भोजन क्यो कराया ?

यह चर्चा बुद्ध के कानो तक पहुची तो उन्होंने अपने शिष्यो से कहा—भिक्षुओ ! यह व्यक्ति उपदेश सुनने का इच्छुक था और उपदेश का योग्य पात्र भी था किन्तु भूखा था। भूख की हालत मे दिया हुआ उपदेश व्यर्थ ही चला जाता। इसलिये मैंने उपदेश से पूर्व इसे भोजन दिया था।

इस उदाहरण से यह साबित हो जाता है कि सर्वप्रथम मनुष्य को भोजन आवश्यक है और उसके पश्चात् ही धर्माराधन सभव है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह कम-से-कम किसी की रोटी छीनकर धनसचय न करे। आवश्यक से अधिक परिग्रह का त्याग करे। अत्यधिक परिग्रही व्यक्ति स्वय धर्माराधन नही कर सकता है और दूसरो को भूखो मरने के लिये बाध्य करके उनके धर्माराधन मे बाधक बनता है। न वह स्वय अपना भला कर सकता है और न दूसरो का। धन-वैभव अनित्य है और इससे शाश्वत सुख की प्राप्ति नही हो सकती। इसलिये प० शोभाचन्द्र भारिल्ल ने कहा है –

होता यदि संसार सुखो का धाम त्याग क्यों करते ?
तीर्थंकर चक्री क्यो जाकर वन मे कहो विचरते ?
बडे बडे भूपालो ने क्यो जग से नाता तोडा ?
अपना विस्तृत निष्कटक क्यो राज्य उन्होंने छोड़ा ?

अभी अभी आपने सेठ धन्ना तथा शालिभद्र के विषय मे सुना है और इतिहास उठाकर देखने पर अनेको चक्रवर्तियो और सम्राटो के विषय मे जाना जा सकता है कि उन्होने धन-वैभव तथा ससार को दुखो का धाम जानकर इस सबका त्याग किया और मुनि बनकर जीवन के सच्चे लक्ष्य को प्राप्त किया। उन्होने भलीभाति समझ लिया था कि—

"किन्न क्लेशकर. परिग्रहनदीपूर प्रवृद्धिगतः।"

अर्थात् नदी की बाढ के समान बढी हुई परिग्रहवृत्ति कौन-सा क्लेश उत्पन्न नही करती ?

सज्जनो! इसीलिये विवेकी पुरुष अपनी काया को धन-प्राप्ति का साधन न मानकर धर्म-प्राप्ति का साधन मानते है। यह शरीर नाशवान् है और आत्मा अमर। कर्मों के सयोग से आत्मा जन्म-मरण के चक्र मे पिसती रहती है, ऐसा यथार्थ ज्ञान जिस महापुरुष को हो जाता है वह आत्म-बोधी पुरुष सम्यक् श्रद्धा जागृत होते ही अपने को अमर मानने लगता है। किसी कवि ने कितने सुन्दर शब्दो मे इसी तथ्य को समझाया है —

"देह विनाशी मै अविनाशी, भेद ज्ञान पकरेंगे।
नाशी जासी, हम थिरवासीः चोखे हो निखरेंगे।।
अब हम अमर भये न मरेंगे।

अर्थात् शरीर नाशवान् है और आत्मा कभी नष्ट होने वाली वस्तु नही है। इस प्रकार आत्मा और शरीर या आत्मा तथा पर-वस्तु का यथार्थ विवेक

करके हम भेदविज्ञानी बनेंगे। इसके पश्चात् पर-वस्तु को नाशवान और आत्मस्वरूप को अनश्वर समझते हुए हम आत्म-सशोधन करेंगे। अनादिकाल से सबद्ध कर्म-मल को दूर करके आत्मा को पूर्णरूप से उज्ज्वल बनायेंगे और इससे यह साबित हो जाएगा कि हम अब अमर हो गए हैं, कभी नही मरेंगे।

विवेकवान् इसी प्रकार आत्मा को पर-वस्तुओ से भिन्न समझकर अनासक्त भाव धारण करते है। और पर-वस्तुओ मे राग न रखकर उन्हें त्याग करने की शक्ति प्राप्त करते हैं। राग ही समस्त कर्मबन्धनो का कारण है। इसी महान् दोप के कारण आत्मा पतित बन जाती है। राग आत्मा के लिये भयानक अभिशाप है और यह आत्मा की जितनी दुर्गति करता है उतनी कोई भी अन्य नही करता। आत्मा को जितने भी कष्ट, सकट, दु ख और वेदनाए भोगनी पडती हैं वे सब राग के ही कारण।

राग के कारण ही आत्मा पर दु खो के महान पर्वत टूट कर गिरते हैं। इतना ही नही, राग आत्मा मे मतिविभ्रम भी उत्पन्न कर देता है। विवेक पर पर्दा डाल देता है। बुद्धि को भी भ्रष्ट कर देता है —

विषयासक्तचित्ताना गुण को वा न नश्यति।
न वैदुष्य न मानुष्यं नाभिजात्य न सत्यवाक्॥

अर्थात् विषयासक्त, रागी मनुष्यो के कौन-कौन से गुण नष्ट नही होते! उनमे न विद्वत्ता रहती है और न मनुष्यता रहती है, न कुलीनता रहती है और न सत्य वचन ही रहता है।

विषयो मे आसक्ति एक प्रकार का राग है और उसके कारण मनुष्य समस्त दोषो की खान बनकर आत्मा को ससार मे परिभ्रमण करने के लिये अटकाए रहता है। इसीलिये कबीर ने बडे मार्मिक शब्दो मे मन को ताडना दी है —

मैं भँवरा! तोहि बरजिया,
बन-बन बास न लेय।
अटकेगा कहुँ बेल से,
तड़पि तड़पि जिय देय॥

मन रूपी भ्रमर को सही मार्ग पर लाने के लिये त्यागी पुरुष उसे तिरस्कृत करता है, नाना प्रकार से समझाता है और वही भव्य पुरुष कालातर मे अपनी आत्मा को पवित्र, विशुद्ध और नि शल्य बना सकता है।

[४]

आर्य और अनार्य

सज्जनो ! शास्त्रो मे स्थान-स्थान पर 'अज्ज' अर्थात् 'आर्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतएव आज हमे इस विषय पर विचार करना है कि आर्य पुरुष किन्हें कहा जा सकता है और अनार्य किन्हे ?

यद्यपि प्रज्ञापना सूत्र मे 'आर्य' और 'अनार्य' मनुष्यो की विविध अपेक्षाओ से प्ररूपणा की गई है पर उस विस्तार मे न जाकर यहाँ आचार-भाव को समक्ष रख कर ही यत् किंचित् प्रकाश डाला जाएगा। जिस रूप मे आज आर्य शब्द साहित्य मे रूढ हो चुका है उसके अनुसार सक्षेप मे दैवी प्रकृति के स्वामी व्यक्तियो को हम 'आर्य' कह सकते हैं और आसुरी प्रकृति के अधीन रहने वाले पुरुषो को 'अनार्य'। ससार मे ये दो ही मूल प्रकृतियाँ हैं जिनके कारण मनुष्य उत्तम बन सकता है अथवा अधम।

ज्ञानी पुरुषो ने अपने साधनाजनित दिव्य ज्ञान से निष्कर्ष निकाला है कि इस विराट विश्व के समस्त प्राणी, दैवी, तथा आसुरी इन दो प्रवृत्तियो के स्वामी बनकर अपने अपने ढग से जीवन का निर्माण करते है।

दैवी शक्ति से अलकृत आर्य पुरुषो की यही विशेषता होती है कि उनके हृदयस्थल में वैर, विरोध, राग, द्वेष अथवा वैमनस्य पल मात्र के लिये भी स्थान नही पाते। वे स्वभाव से ही समदर्शी तथा समभावी होते है। शाति और धैर्य क्षण मात्र के लिये भी उनका साथ नही छोडते। भयानक से भयानक स्थिति मे वे स्वभाव से विचलित नही होते, क्योकि वे आत्मिक सुख को सासारिक सुखो से भिन्न मानते है। उन्हे दृढ विश्वास होता है कि ससार का समस्त वैभव और इसमे भोगे जाने वाले समस्त भोगोपभोग भी आत्मा को रच मात्र भी सुखी नही कर सकते। कालान्तर मे ये सभी आत्मा के लिये दु ख का कारण बनते हैं। जिस धन की आसक्ति के कारण और जिन सब-धियो के मोह के कारण मनुष्य आत्मकल्याण को भुला देता है, वे अन्त मे काम नही आते। भगवान् ने चेतावनी दी है —

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बंधवा।
जीवन्तमणुजीवंति, मयं नाणुव्वयन्ति य ।।

उत्तराध्ययन सूत्र, १८,१४

अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र और वन्धुजन यह सभी इस जीवन के साथी है। मरने पर इनमे से कोई भी साथ नही चलता।

यह एक ऐसा सत्य है कि प्रत्येक प्राणी इसका प्रत्येक समय अनुभव कर सकता है। किन्तु कोई-कोई भाग्यशाली जीव ही भगवान् के इस जागरण-पूर्ण सदेश को समझकर अपने चक्षुओ को खोलता है तथा अपनी आत्मा की शक्ति को समझता है। ऐसा व्यक्ति अपनी कूप-मण्डूकता को छोड कर महाप्रभु के इस आदेश मे सचेत हो जाता है। वह भलीभाति जान लेता है कि इन भौतिक पदार्थो के सुख से परे भी और कोई सुख है जो आत्मा का स्वरूप होने के कारण चिरस्थायी होता है और जिसकी तुलना मे सासारिक सुख अत्यन्त तुच्छ है।

ऐसे धीर वीर और सयमी पुरुष जीवन और जगत् के रहस्य को समझ जाते है। परिणामस्वरूप वे आशा और तृष्णा पर विजय प्राप्त करते हैं, ससार सम्वन्धी राग का त्याग कर आत्मा को उन्नत और पवित्र बनाने का प्रयत्न करते है। उनके हृदय का सूत्र भगवान् के साथ जुड जाता है और दुनियादारी की झझटो से स्वय ही नाता टूट जाता है। उनका चित्त निर्मल, भावना पावन और क्रियाएँ निष्कपट होती है। वे मोह से परे हो जाते है और विषयविकारो से रहित। क्योकि वे प्रतिक्षण यह स्मरण रखते हैं:—

अद्यैव हसितं गीतं पठितं यैः शरीरिभिः।
अद्यैव ते न दृश्यन्ते कष्टं कालस्य चेष्टितम् ।।

अर्थात् अभी कुछ समय पूर्व जो प्राणी हस रहे थे, उत्तम पदो का पाठ कर रहे थे, प्रसन्नता-पूर्वक गीत गा रहे थे, वे अब कुछ क्षणो के पश्चात् ही दिखाई नही पडते। कही भी उनके शरीर का चिह्न दृष्टिगोचर नही होता। काल की यह कैसी कष्टप्रद क्रीडा है।

प्रतिक्षण ऐसी भावना रखने वाले महान् पुरुषो के हृदय मे प्राणी-मात्र के प्रति असीम करुणा और स्नेह की भावना होती है। विशाल दृष्टि वाले वे प्राणी समस्त विश्व के प्राणियो के आत्मीय बन जाते है क्योकि वे सबको अपना आत्मीय समझते है। अपनी उदार वृत्ति के कारण वे अनुभव करते

है कि विश्व का कोई भी प्राणी ऐसा नही है जिसके साथ कभी न कभी उनका नाता न हुआ हो । वे मानते है कि —

सब जीवो से सब जीवों के,
सब सम्बन्ध हुए हैं ।
लोक प्रदेश असख्य जीव ने,
अगणित बार छुए हैं ।।

ऐसे दिव्यात्माओ की धारणा होती है कि और तो और गदगी बहाने वाली नाली मे बिलबिलाने वाले कीडे भी किसी जन्म मे हमारे बन्धु-बान्धव थे । तो फिर दूसरे जन्म के सम्बन्धी और इस जन्म के सम्बन्धियो मे क्या अन्तर है ?

जिस व्यक्ति के अन्त करण मे ऐसी भावना जागृत हो जाए उसके द्वारा फिर किसी भी अन्य प्राणी का अनिष्ट होना कैसे सम्भव हो सकता है ? मन वचन और काय इन तीनो मे से एक के द्वारा भी वह किसी का अहित चिन्तन नही करता । कृत्य-अकृत्य, धर्म-अधर्म, न्याय और अन्याय का विचार करते हुए वह विवेकी पुरुष दूसरो के सुख-दुख को अपना सुख-दुख और दूसरो के हानि-लाभ को अपना हानि-लाभ समझते है । ऐसे उत्तम पुरुष ही साधना के राज-मार्ग पर चलते है और अगणित परीषह सहने पर भी उससे च्युत नही होते ।

बन्धुओ ! अब आप समझ गए होगे कि किन गुणो के धारक और किन वृत्तियो के स्वामी व्यक्ति को हम आर्य पुरुष कहेगे । वास्तव मे वही व्यक्ति आर्य कहला सकता है जो हेय कृत्यो से दूर रहे—'आरात् हेयधर्मेभ्यो यातीति आर्य ' जो अपने विचारो से और कर्मों से उच्च हो, जिस मनुष्य मे सच्ची मनुष्यता हो वह 'आर्य' शब्द से अलकृत होने का अधिकारी है । मनुष्यता को प्राप्त करना बडा कठिन है । कमजोर हृदय का व्यक्ति उसे पाने मे समर्थ कदापि नही हो सकता । एक शायर ने कहा भी है

फरिश्ते से बेहतर है इन्सान बनना ।
मगर इसमे पडती है मेहनत जियादा ।।

कितने सुन्दर भाव हैं कि सच्चा इन्सान बनना फरिश्ता अर्थात् देवता बनने से भी अधिक अच्छा है । किन्तु इसमे मेहनत बहुत पडती है । मेहनत से शायर का आशय शारीरिक परिश्रम से नही वरन् मानसिक तथा बौद्धिक

साधना से है। सच्चा इन्सान बनने के लिये मानव को इन्द्रिय सुखो का बलिदान करना पडता है। मन को नियन्त्रण मे रखना पडता है। इतना ही नही, वरन् उसे मोड कर आध्यात्मिक चिन्तन की ओर ले जाना पडता है। क्या यह सरल है ? नही, आत्मिक साधना के लिये सयत पुरुष को अपने मन, वाणी और शरीर पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण रखते हुए इन्द्रियो को साधने की कठिन तपस्या करनी पडती है। भगवान् ने फरमाया भी है —

साहरे हत्थपाए य मण पचिदियाणि य।
पावग च परिणाम, भासादोसं च तारिस ।।

—सूत्रकृताग प्र. अ --८

अर्थात् साधक का कर्तव्य है कि वह कछुए की भाति अपने हाथो-पैरो को अर्थात् समस्त अगोपागो को गोपन करके रखे। उनके द्वारा किसी भी प्रकार का असयम न होने दे। विषय-वासनाओ की ओर दौडने वाले मन के वेग को रोक ले। इन्द्रियो को विपयो की ओर न जाने दे। हृदय मे कुविचारो को स्थान न दे तथा भाषा सम्बन्धी दोपो का सेवन न करे।

सासारिक पदार्थों और भोग-विलासो मे आसक्ति के होने से आत्म-कल्याण के मार्ग मे एक दीवार खडी हो जाती है। जब तक यह आसक्ति बनी रहती है तब तक आत्मा नाना प्रकार के सकल्प-विकल्पो मे और कष्टो तथा वेदनाओ मे फसी ही रहती है। आसक्ति आत्मा की ज्योति को मद करती है और इसके विपरीत विरक्ति आत्मा को कुदन बना देती है।

आर्य पुरुष अपनी आत्मा को अपने सुविचारो से उन्नत और पवित्र बनाते है और पाप के पथ से निवृत्त होकर धर्म के पथ पर अग्रसर होते हुए इस लोक मे सुख के भाजन बनते हैं और परलोक मे भी अपूर्व आनन्द का आस्वादन करते है।

इसके विपरीत, जो मनुष्य अनार्य होते है, दूसरे शब्दो मे आसुरी शक्ति के आधीन रहते है, उनकी भावनाएँ क्रूर होती हैं और उनके कृत्य अत्यन्त निंदनीय होते है। ऐसे पुरुष अशुद्ध विचारो के शिकार होकर अन्याय और अधर्म से अर्थोपार्जन करते है। दूसरो के अधिकारो का अपहरण करते है और सासारिक भोगो मे ही सुख मानते है। झूठ बोलने, कपट करने, दूसरो को ठगने और धोखा देने मे रचमात्र भी सकोच नही करते। औरो का अनिष्ट करने मे उन्हे लेशमात्र भी भय का अनुभव नही होता। बात की बात मे उनके

नेत्रो से क्रोध की चिनगारियाँ निकलने लगती है । मद और अहकार से अकडे हुए रहने के कारण उन्हे भविष्य मे होने वाली आत्मा की दुर्गति का भान नही रहता । उनके मन मे तो सदा ही यह भावना रहती है —

मेरो देह मेरो गेह मेरो परिवार सब,
मेरो धन माल मैं तो बहुविधि भारो हूँ ।
मेरे सब सेवक हुकम कोऊ मेटे नहिं
मेरी युवती को मैं तो अधिक पियारो हूँ ।
मेरो वश ऊँचो मेरे बाप दादा ऐसे भये,
करत बडाई मैं तो जग उजियारो हूँ ।
सुन्दर कहत मेरो मेरो कर जाने शठ,
ऐसो नहिं जाने मैं तो काल को ही यारो हूँ ।।

अनार्य व्यक्ति उपार्जित की हुई धन-सम्पत्ति को 'सदा ही मेरी रहेगी' ऐसा मानता है । सैंकडो अभिलाषाओं के फदे मे पडा हुआ वह कामभोगो की पूर्ति के लिये अपार वैभव का सग्रह करता है । वह सदा यही विचार करता है कि आज मैंने यह प्राप्त कर लिया है और अब कल इस मनोरथ को पूर्ण करूँगा । वह यह भूल जाता है कि ये समस्त पदार्थ नश्वर हैं, आत्मा का साथ छोड देने वाले हैं और मेरा स्वय का शरीर भी 'काल' का सिर्फ एक ही ग्रास है ।

ऐसे अज्ञानी व्यक्तियो का सबसे बडा अवगुण यही है कि वे अपने को बडा ज्ञानी मानते है । यद्यपि वे जानते बहुत ही थोडा हैं किन्तु दावा बहुत जानने का या कि सब कुछ जानने का करते है । वे समझते है कि हम जो कुछ जानते हैं, बस वही बोध की पराकाष्ठा है । वही सत्य है । उस अनार्य अथवा अज्ञानी की यह भ्राति उसकी महादयनीय अवस्था की द्योतक होती है, क्योकि वह अपनी अज्ञानता का भी अनुभव नही कर पाता । उसकी दृष्टि भूतकाल और भविष्यकाल से दूर हटकर वर्तमान तक ही सीमित रहती है । वह भविष्य के नही किन्तु वर्तमान के लाभ को ही अपने समक्ष रखता है । इसके विपरीत ज्ञानी व्यक्ति वर्तमान के साथ भविष्य के लाभ को देखते हैं ।

कहते हैं कि एक धनी व्यक्ति ईसामसीह के पास पहुँचा । उसने उनसे प्रार्थना की—भगवन् ! मुझे अखड शाति प्राप्त हो, इसका कोई उपाय बताइये । ससार की चीज़ो से तो मुझे शाति हासिल नही होती ।

ईसा बोले—वत्स! भगवान् मैं नही हूँ, मैं तो भगवान् का एक मामूली सेवक हूँ। फिर भी तुम्हे इतना बता सकता हूँ कि अगर तुम अखड शाति, अबाध सुख और अमर जीवन जीना चाहते हो तो जाओ अपनी सारी वस्तुएँ, जो तुमने इकट्ठी की हैं, बेच दो और धन को गरीबो मे बाँट दो। क्योकि 'यह तो मुमकिन है कि ऊँट सुई की नोक मे से निकल जाय, पर यह मुमकिन नही है कि धनी आदमी ईश्वर के राज्य मे दाखिल हो जाय।'

इसीलिये ज्ञानी पुरुप सासारिक वस्तुओ से विरक्त रहने की कोशिश करता है। अज्ञानी व्यक्ति उनको पाने के लिये अहर्निशि व्याकुल रहता है। वह वैभव प्राप्त करके अत्यन्त आनन्द का अनुभव करता है और उसका नाश हो जाने पर महान् व्याकुलता का अनुभव करता है, उसे महान् विपत्ति मानता और विपत्ति का अनुभव कर अत्यत खेदित होता है :—

नन्दन्ति मदा श्रियमाप्य नित्य,
परं विषीदन्ति विपद्गृहीता।
विवेकदृष्ट्या चरतां नराणा,
श्रियो न किञ्चिद् विपदो न किञ्चित्।

अर्थात् विवेकहीन पुरुष धन-सम्पत्ति पाकर फूले नही समाते और जब विपत्ति आती है तो अत्यन्त दुखी होते है। किन्तु विवेकी पुरुप अपनी विवेक-बुद्धि के कारण न धन को ही महत्त्व देते हैं और न विपत्ति को ही। वे तो प्रत्येक स्थिति मे 'सागरवत् गभीरा' यानि समुद्र की भाँति गभीर बने रहते है।

विवेकहीनता मनुष्य को रागी और मूढ बनाती है। परिणाम यह होता है कि उसकी आत्मा निरन्तर अवनत होती जाती है। वह न इस लोक मे सुख और शाति प्राप्त करता है और न परलोक मे ही।

इसीलिये दिव्य पुरुष कहते है कि अपने विचारो को और कर्मो को शुद्ध, पवित्र और उन्नत बनाओ। शुभ विचारो और शुभ क्रियाओ से मनुष्य आर्य कहलाने का अधिकारी बनता है। उच्च कुल, उच्च जाति अथवा आर्य क्षेत्र मे जन्म लेने पर भी सदाचारहीन मनुष्य आर्य नही कहलाता। अशुभ विचारो के तथा अनिष्टकारी कर्मो के कारण मनुष्य अनार्य अथवा म्लेच्छ की कोटि मे गिना जाता है। स्थानाग सूत्र मे आर्य और अनार्य व्यक्तियो का सुन्दर विवेचन किया गया है जिसके आधार पर हम समझ सकते है कि आर्य और अनार्य की परिभाषा क्या है तथा आर्य और अनार्य हम किनको कह सकते हैं। सूत्र है :—

"चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तजहा-अज्जे णाममेगे अज्जभावे, अज्जे णाममेगे अणज्जभावे, अणज्जे नाममेगे अज्जभावे अणज्जे नाममेगे अणज्जभावे।"

—स्थानाग सूत्र अ. ४

चार प्रकार के जो पुरुष सूत्र मे बताए गये है, उनमे से प्रथम प्रकार के वे हैं जो नाम से भी आर्य होते हैं और विचारो से भी आर्य ही होते हैं। ऐसे आर्य पुरुष उच्च जाति, कुल तथा क्षेत्र मे जन्म लेते हैं और उसी के अनुसार अपने विचारो को और जीवन को उच्च बनाए रहते हैं। वे कभी किसी प्रकार के निन्दनीय कर्म नही करते और अपने आचरण के द्वारा अपने कुल और जाति को कलकित नही होने देते।

तीर्थंकर, बलदेव, और वासुदेव तथा चक्रवर्ती सभी आर्य क्षेत्र मे जन्म लेते है, कुलीन होते है और उसके अनुसार जीवन यापन करके कालान्तर मे शाश्वत सुख प्राप्त करते है।

कुलीन व्यक्ति अपने उन्नत आचरण और विचारो के कारण भयकर से भयकर स्थिति मे भी धैर्य नही खोता। अपनी आत्मोन्नति के लिये प्रयास करते हुए वह अनेकानेक कष्ट सहकर भी विचलित नही होता। अपने धैर्य की रक्षा के लिये समस्त धन, वैभव यहाँ तक कि प्राणो का भी त्याग करना पडे तो सहर्ष ही कर देता है। आचार्य चाणक्य ने कहा है —

छिन्नोपि चन्दनतरुर्न जहाति गन्ध।
वृद्धोपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम्॥
यन्त्रार्पितो मधुरिमा न जहाति चेक्षु।
क्षीणोपि न त्यजति शीलगुणान्कुलीन॥

अर्थात् जिस प्रकार काटा हुआ चन्दन का वृक्ष अपनी गन्ध को नही छोडता, बूढा हो जाने पर भी गजराज अपनी मन्दगति को नही छोडता, कोल्हू मे पेरी हुई ईख मधुरता का त्याग नही करती, उसी प्रकार धन-वैभव अथवा शरीर से क्षीण हो जाने पर भी कुलीन व्यक्ति अपने शील-गुणो का त्याग नही करता। कभी अधर्म का आचरण नही करता।

सच्चे आर्य पुरुष सृष्टि के समस्त प्राणियो मे ईश्वर का ही रूप देखते हैं। और इसलिये प्रत्येक प्राणी के लिये उनके हृदय मे अपार स्नेह और दया होती है। अपने विरोधी के प्रति भी उनके मन मे बदला लेने की भावना नहीं आती वरन् उसे अधिक से अधिक सुख पहुँचे यही उनकी भावना रहती है।

आर्य और अनार्य

एक बार स्वामी रामदास अपने शिष्यो के साथ एक गन्ने के खेत के सामने से गुजर रहे थे। उनमे से एक शिष्य ने एक गन्ना तोडकर खा लिया। इतने मे ही खेत का मालिक वहाँ आ पहुँचा। बिना उसकी इजाजत के गन्ना खाते हुए देखकर उसे बडा क्रोध आया और उसने रामदास जी को ही सबका सरदार मानकर खूब पीटा।

जब शिवाजी को यह मालूम हुआ कि उनके महान् श्रद्धास्पद गुरुजी को गन्ने के खेतवाले ने पीटा है तो उन्होने फौरन खेत के मालिक को पकडवा मगाया। उसने आकर देखा—स्वामी रामदास, जिन्हे उसने पीटा था, सामने ही राजसिंहासन पर बैठे है और महाराज शिवाजी भूमि पर।

यह देखकर किसान थर-थर काँपने लगा। शिवाजी ने गुरुजी से कहा—भगवन्! आप जो सजा देने को कहे वह मैं इसे दू।

रामदासजी ने कहा—राजन्, मैं जो कहूँगा वही करोगे?

शिवाजी ने कहा—अवश्य, क्या मैं आपकी आज्ञा का पालन नही करूँगा?

गुरुजी किसान की ओर बडे ही दयाभाव से दृष्टिपात करते हुए बोले—तो भाई यह गरीब है। गन्ना कम हो जाने से इसे आघात लगना स्वाभाविक है। अत इसकी दरिद्रता दूर करने के लिये इसे एक जागीर दे दो।

कहने का तात्पर्य यही है कि आर्य व्यक्ति आर्य क्षेत्र मे, उच्च कुल मे तथा ऊँची जाति मे पैदा होकर उसी के अनुरूप अपना जीवन भी उन्नत बना लेते है। ससार के कोई भी प्रलोभन अथवा दुष्टजनो की सगति उनके हृदय मे मलिनता और कलुषता पैदा नही कर पाती। ऐसे उत्तम पुरुषो के लिये ही सूत्र मे कहा गया है "अज्जे णाममेगे अज्जभावे।"

दूसरे प्रकार के पुरुष वे है जो उच्चकुल, गोत्र तथा जाति मे उत्पन्न होकर भी जीवन को अवनत बना लेते है। उनका हृदय ईर्ष्या, द्वेष निन्दा तथा कषायो का स्थान बन जाता है। फलस्वरूप वे सर्वदा गर्हित और निन्दनीय कार्य करते है। और जैसा कि सूत्र मे कहा गया है—"अज्जेणागमेगे अणज्ज-भावे।" अर्थात् नाम से आर्य होने पर भी वे भावो से अनार्य बन जाते है।

कस उच्च कुल मे जन्मा था किन्तु उसने अपना जीवन अन्याय और अत्याचार करने मे ही बिताया। अपनी निर्दोष बहन देवकी के छः पुत्रो को

अत्यन्त निर्दयता पूर्वक मौत के घाट उतारा और कृष्ण को मरवा डालने के लिये भी नाना प्रयत्न किये ।

इसी प्रकार दुर्योधन ने भी उच्च और प्रतिष्ठित राजवश मे जन्म लिया था । उसके पिता महाराजा धृतराष्ट्र बडे सरल, सदाचारी और पवित्रात्मा थे । और माता गाधारी महान् पतिव्रता और सती शिरोमणि मानी जाती थी। किन्तु ऐसे माता-पिता की सन्तान होकर भी दुर्योधन अत्यन्त निकृष्ट विचारो वाला वन गया। ईर्ष्या और द्वेष उसकी रग रग मे समाया हुआ था ।

अपने चचेरे भाई पाँडवो से वह वचपन से ही द्वेप रखता था और वडा होने पर तो उसके द्वेप ने महाभयकर रूप धारण कर लिया था । अपने मामा शकुनि की सहायता से उसने धर्मपरायण युधिष्ठिर को भी जूए मे हार कर वन-वन मे भटकने को वाध्य कर दिया और वर्षों तक उन्हे दु खपूर्ण जीवन व्यतीत करना पडा । इसके अतिरिक्त दुर्योधन ने समय-समय पर पाँडवो को मार डालने के प्रयत्न किये । एक वार तो लाख का महल वनवाकर उसमे पाँडवो को ठहराया और रात्रि के समय उसमे आग लगाकर जला डालने की कोशिश की ।

नाम से आर्य होने पर भी दुर्योधन ने अपने सम्पूर्ण जीवन मे अनार्य जैसे निन्दनीय कार्य किये । और अन्त मे महाभारत जैसा भयानक युद्ध करके अपने समस्त कुल का नाश किया और लाखो-करोडो प्राणियो के घात का कारण वना ।

जहाँ हम लोग निवास करते है वह आर्य-खण्ड कहलाता है । किन्तु इसमे विचारो और कृत्यो से अनार्यों की कमी नही है । आज का मानव मनुष्यत्व त्यागकर दानव वन गया है । एक के वाद एक होने वाले युद्ध इसके परिचायक है । विश्व मे आज जो अनेको दु ख व्याप्त हो गए है उनका मूल कारण मानव की पाशविक वृत्तियाँ ही तो है । आकृति से मनुष्य होकर भी वह प्रकृति से पशु वना हुआ है ।

अगर हम स्थिरचित्त होकर निरीक्षण करें तो प्रतीत हुए विना नही रहेगा कि आज के अधिकाश मानवो के मन मे पाशविक वृत्तियाँ अधिकार किये हुए है । मनुष्यो के मन मे धन के सचय की कभी शात न होने वाली लालसा रहती है । वह चीटी की भावना के समान है । स्वार्थसिद्धि के लिये धनवानो और अपने अधिकारियो की खुशामद करने की भावना श्वानवृत्ति

का प्रमाण है। छल-प्रपच के द्वारा एक-दूसरे को ठगने की इच्छा शृगाल की वृत्ति, और ईर्ष्या द्वेष के वशीभूत होकर दाँत पीसते हुए एक-दूसरे से रोष-पूर्वक लडना, झगडना और कभी-कभी मार डालना यह हिंस्र वृत्ति है।

तो जब तक इन पाशविक वृत्तियो का अन्त नही हो जाता, मनुष्य अपने को आर्य कहलाने का अधिकारी नही हो सकता। सरलता, सच्चाई मनुष्यता और प्रामाणिकता के विना मनुष्य जाति, कुल, भाषा या देश से आर्य होकर भी विचारो से और कृत्यो से अनार्य ही रहता है। ऐसे निकृष्ट और हीन विचारो वाले व्यक्तियो के लिये ही तुलसीदासजी ने लिखा है —

ऊँच निवास नीच करतूती,
देखि न सकहि पराइ विभूती।

उच्च कहलाते हुए भी नीच कार्य करना और दूसरो की सम्पन्नता को देखकर अहर्निशि हृदय मे जलते रहना अनार्यों के ही लक्षण है।

अब हम सूत्र मे बताए गए तीसरे प्रकार के पुरुषो का विचार करते है। ये वे पुरुष होते है जो देशादि से अनार्य होने पर भी विचारो से आर्य अर्थात् अत्यन्त सरल और उच्च विचारो वाले होते है। वे पापभीरु होते है और इसीलिये अपने छोटे-से-छोटे पाप के लिये भी पश्चात्ताप करते है। और भविष्य मे उन्हे न होने देने के लिये सजगता रखते है। ऐसे व्यक्ति जाति, कुल, गोत्र तथा उच्च वश मे पैदा न होकर भी अपने विचारो से महान् साबित होते है।

हरिकेशीबल मुनि चाडाल कुल मे उत्पन्न हुए थे। उनका बचपन अत्यन्त दरिद्रता तथा हीनावस्था मे व्यतीत हुआ था। किन्तु होश सम्भालने पर उन्होने अपने जीवन को शुद्धता की खराद पर चढाकर कचन के समान बना लिया। चाडाल होकर भी उन्होने सयम ग्रहण किया और संयम का भी सिर्फ बाना बदलकर ही नही वरन् हृदय की सम्पूर्ण कलुषित वृत्तियो को शुभ वृत्तियो मे बदलकर पालन किया। उनके धैर्य की परीक्षा स्वय देवताओ ने भी ली और उस परीक्षा मे सोलह आने खरे उतरे। अत मे पूर्ण सयम का पालन करते हुए उन्होने देह त्याग किया और कल्याण के भाजन बने।

वास्तव मे, जीवन को महान् बनाने के लिये यह आवश्यक नही है कि मनुष्य उच्च कुल का, उच्च जाति का अथवा ऐश्वर्यशाली वश मे जन्म लिया

हुआ हो। जीवन तभी महान् बनता है जब मनुष्य की आत्मा मे सरलता, विनय निर्लोभ वृत्ति तथा कषायो की मदता हो। आत्मा के गुण ही आत्मा को ऊँचा उठाते है। वे कही बाहर से नही आते आत्मा मे ही विकसित होते है।

एकलव्य एक भील-बालक था। किन्तु उसके हृदय मे धनुर्विद्या प्राप्त करने की असीम लालसा थी। निम्न जाति का होने के कारण उसे कोई गुरु अपना शिष्य बनाने के लिये तैयार नही होता था, अत उसने पाडवो और कौरवो के गुरु द्रोणाचार्य की एक मूर्ति बनाई और वह उस मूर्ति के सामने धनुर्विद्या का अभ्यास करने लगा। उसके हृदय मे अपने गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा थी। परिणामस्वरूप बिना उनके प्रत्यक्ष सिखाए भी वह धनुर्विद्या मे अत्यन्त पारगत हो गया। प्रतिदिन उसकी कला अधिक-से-अधिक बढती गई।

सयोग से एक बार गुरु द्रोणाचार्य स्वय अपने शिष्यो के साथ उस स्थान पर आ निकले जहाँ एकलव्य दत्तचित्त होकर अभ्यास कर रहा था। उसका अचूक निशाना और अद्भुत कौशल देखकर वे दग रह गए। पूछने लगे—बालक ! किस गुरु के पास तुम शिक्षा प्राप्त कर रहे हो और तुम कौन हो ?

एकलव्य ने अपनी कल्पना के अनुसार द्रोणाचार्य की बनाई मूर्ति की ओर इशारा किया और कहा—देव ! मेरे गुरु महान् द्रोणाचार्य है। मैं भील बालक हूँ, अस्पृश्य हूँ, अत अपने गुरु की मूर्ति के सामने ही अभ्यास किया करता हूँ।

उसकी आश्चर्यजनक कला देखकर द्रोणाचार्य के हृदय मे यह भय समा गया कि यह भील-बालक तो अर्जुन से भी बढकर युद्धविद्या मे निपुण हो जाएगा। अत प्रकट मे उन्होने कहा—द्रोणाचार्य तो मैं ही हूँ। अगर तुम मेरे शिष्य हो तो मुझे गुरु-दक्षिणा दो।

एकलव्य ने मस्तक झुकाकर उत्तर दिया—गुरुदेव ! मेरे धन्य भाग्य हैं कि आपके चरण मेरे स्थान पर पडे। मैं कृतार्थ हो गया। आदेश दीजिए, गुरुदक्षिणा मे क्या प्रदान करूँ ? मेरा सर्वस्व आप ही का है।

द्रोणाचार्य ने कहा—मुझे तुम अपने दाहिने हाथ का अगूठा गुरुदक्षिणा मे प्रदान करो। दे सकोगे ?

द्रोणाचार्य के मुख से बात निकलने की ही देर थी, एकलव्य ने फौरन अपने हाथ से हाथ का दाहिना अगूठा काटकर उनके चरणो मे रख दिया और कहा—भगवन् ! क्यो नही दे सकूगा ? आपकी आज्ञा पर इसी क्षण अपना मस्तक भी उतार कर दे सकता हूँ, अगूठा तो चीज ही क्या है ।

बधुओ ! विचार कीजिए कि एकलव्य और द्रोण मे से कौन सच्चा आर्य था ? बालक एकलव्य की अद्वितीय कला का नाश चाहने वाले और ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न गुरु द्रोणाचार्य ? अथवा अपने गुरु पर अखड श्रद्धा और भक्ति रखने वाला, शुद्ध और सरल हृदयवाला भील जैसी निम्न जाति मे उत्पन्न हुआ एकलव्य ?

कितनी दृढ गुरु भक्ति, कितनी सरलता, कितनी सहनशीलता और कितनी निष्पापता थी एकलव्य के जीवन मे । यही तो आर्य पुरुष के लक्षण हैं । ऐसी महान् आत्माएँ नाम से आर्य न होकर भी अपने विचारो और कार्यों से आर्य कहलाती हैं । इसीलिये एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है —

"Gurd well they thought, our thoughts are heard in heben"

अर्थात् अपने विचारो की अच्छी तरह से रक्षा करो, क्योकि विचार स्वर्ग मे सुने जाते हैं ।

बाहर से कितनी भी उच्च क्रियाएँ क्यो न की जाएँ, अगर उनके साथ उच्च विचार न हो तो वे क्रियाएँ अर्थहीन साबित होती हैं । कबीर का कथन है —

आचारी सब जग मिला, मिला विचारी न कोय ।
कोटि आचारी बारिये, एक विचारि जो होय ।।

अभिप्राय यह है कि उच्च विचार ही मनुष्य को महान् बनाते हैं और उसे आर्य पुरुष की सज्ञा देते हैं । आज भी हम देखते हैं कि अनेक दरिद्र व्यक्ति अपने विचारो से अत्यन्त उच्च होते हैं । सौम्यता, सरलता, प्रामाणिकता सन्तोषशीलता तथा स्वालम्बन उनके हृदयो मे कूट-कूट कर भरे हुए होते है ।

एक बार हातिमताई से किसी ने पूछा— क्या आपने किसी को अपने से भी अधिक स्वात्माभिमानी तथा स्वावलम्बी देखा है ?

हातिमताई बोले —हाँ। एक दिन हमारे यहाँ बड़ा भारी भोज हो रहा था। उस समय मैंने एक लकड़हारे को देखा जो पीठ पर लकड़ियो का गट्ठर रखे हुए अपने घर जा रहा था। मैंने उससे पूछा—भाई ! तुम हातिम की दावत मे क्यो नही गये ? आज उसके यहाँ अनेक लोग भोजन करने आए हुए हैं।

लकड़हारे ने जवाब दिया--जो व्यक्ति अपने हाथ की कमाई से पेट भरता है वह हातिमताई के यहाँ खाने के लिये क्यो जाएगा। दूसरों का अन्न खाने की वृत्ति मुझे आलसी बना देगी और धीरे-धीरे मैं परावलम्बी बन जाऊँगा और स्वय श्रम न करके दूसरो का खाते रहने की मेरी नीयत हो जाएगी। उस व्यक्ति को मैंने आत्मगौरव तथा हृदय की शुद्धता मे अपने से बढकर पाया।

तात्पर्य यह है कि ससार मे अनेक व्यक्ति दीन, हीन, दरिद्र और अभावग्रस्त होने पर भी मन से अत्यन्त शुद्ध और पवित्र होते हैं। मन की उच्चता के लिये कुलीन और वैभवसम्पन्न होना आवश्यक नही है। और विचारो से उच्च होना ही वास्तविक उच्चता तथा महानता है। उच्च विचारो मे महान् बल होता है। स्वामी विवेकानन्द ने तो यहाँ तक कहा है :—

"अगर कोई मनुष्य गुफा मे रहे वही पर उच्च विचार करे और विचार करता हुआ ही मर जाय तो वे विचार कुछ समय पश्चात् गुफा की दीवारें फाडकर बाहर निकलेंगे और सब जगह छा जायेंगे। तथा अन्त मे सारे मानवसमाज को प्रभावित कर देंगे।"

उच्च विचार प्रभावशाली होते है और वे मनुष्य को उच्च बनाते हैं। मनुष्य के जैसे विचार होते हैं वैसा ही उसके जीवन का निर्माण होता है। अगर मनुष्य का हृदय सुविचारो से परिपूर्ण नही है तो उसका कुलीन होना अथवा उच्च वशीय होना भी कोइ अर्थ नही रखता। क्योकि कुविचार अन्त करण पर कुठाराघात करते है और आत्मा को अवनति की ओर ले जाते हैं। इसलिये किसी भी मनुष्य का अपने उच्चवशीय होने का गर्व करना निरर्थक है और निम्नकुल मे जन्म लेने के कारण हीनता का अनुभव करना भी व्यर्थ है। अगर मनुष्य को वास्तव मे ही आत्मा का कल्याण करना है, ससार के जन्म-मरण से मुक्त होना चाहता है तो उसे प्रत्येक स्थिति मे अपने विचारो को और कार्यों को उच्च बनाना चाहिए। यही उन्नति का मूलमत्र है और सच्चा आर्यत्व है।

स्थानाग सूत्र मे वर्णित चौथे प्रकार के मनुष्यो के विषय मे बताया गया है कि वे नाम से भी अनार्य होते हैं और भावो से भी सदा अनार्य ही बने रहते हैं। अर्थात् उनका जीवन आदि से अन्त तक निन्दनीय विचारो और कृत्यो से परिपूर्ण रहता है। वे सदा अज्ञान रूपी अंधकार मे भटकते रहते है और जन्म-मरण के चक्र मे पिसते रहते है। ऐसे दुर्जन व्यक्ति न अपना ही कल्याण कर सकते हैं और न ही दूसरो के सहायक बन सकते है।

कालिक नामक कसाई एक ऐसा ही दुरात्मा और दूसरे शब्दो मे अनार्य कहलाने लायक मनुष्य था। यद्यपि भगवान् जानते थे कि आयु कर्म का बन्ध परिवर्तित नही हो सकता—उसमे सक्रमण के लिए अवकाश नही है, तथापि श्रेणिक को आश्वासन देने और वस्तुस्वरूप समझाने के लिये भगवान् महावीर ने राजा श्रेणिक से कहा—अगर कालिक कसाई प्राणियो का वध करना बन्द कर सके तो तुम्हारा नरकायु बध टूट सकता है।

महाराज श्रेणिक ने कसाई को वध करना त्याग देने के लिये कहा और इसके बदले मे अटूट धन, धान्य आदि देने का प्रलोभन दिया, किन्तु वह पतितात्मा किसी भी मूल्य पर वध करने का त्याग करने के लिये तैयार नही हुआ। अत मे राजा श्रेणिक ने उसे कैदखाने मे डलवा दिया विचार किया—कैद में रहकर वह किसका वध कर सकेगा ?

लेकिन आप जानते ही हैं कि कुबुद्धि भी अपने योग्य मार्ग खोज लेने मे असमर्थ नही रहती। कालिक ने कारागार मे भी जीव-वध करने का अनूठा उपाय खोज लिया। वह अपने शरीर का मैल उतार-उतार कर उसके भैंसे बना लेता और फिर उनकी गर्दन मरोड देता। इस प्रकार मन से ही वह सकल्पी-हिंसा करने लगा। श्रेणिक ने अत मे हारकर उसे मुक्त कर दिया।

तो, ऐसे उदाहरणो को देखने पर ज्ञात होता है कि विश्व मे ऐसे दुर्जनो का भी अभाव नही है, जिन्हे लाख प्रयत्न करने पर भी सज्जन नही बनाया जा सकता। कहा भी है--

> **दुष्ट न छांड़े दुष्टता, कैसे हूँ सुख देत।**
> **धोये हूँ सौ बेर के काजर होत न श्वेत॥**

वास्तव मे दुर्जन व्यक्ति को अच्छी-से-अच्छी शिक्षा दी जाय तब भी वह साधु नही बन सकता जैसे काजल को सैकडो बार जल से धोने पर भी वह सफेद नही होता, और नीम आदि कडवे वृक्ष हजारो घडे दूध से सीचने पर भी मधुर नही बनते।

असयमी और अधर्मी व्यक्ति अपनी विवेकहीनता के कारण पशुतुल्य जीवन व्यतीत करते है और अनन्त काल तक जन्म-मरण के अथाह सागर मे डूबते-उतराते रहते हैं। दूसरो को हानि पहुँचाना उनका मुख्य उद्देश्य होता है। और उसी मे वे परम सुख की अनुभूति करते है। अकारण दूसरो से वैर करना, दूसरो के धन और ऐश्वर्य को प्राप्त करने की इच्छा रखना, तथा पराई स्त्री की चाह करना और अपने मित्रो की उन्नति देखकर ईर्ष्या करना, यह दुर्जनो की स्वाभाविक वृत्ति होती है।

इसीलिये ज्ञानी पुरुप कहते है कि दुर्जनो के साथ किसी भी प्रकार का सम्पर्क नही रखना चाहिये। यहाँ तक कि दुर्जन व्यक्ति अगर विद्यावान् हो तो भी उसके साथ मैत्री करना उचित नही है। भर्तृहरि ने कहा भी है —

दुर्जन परिहर्तव्य विद्ययालकृतोपि सन्।
मणिना भूषित सर्प किमसौ न भयकर ॥

अर्थात् विद्या से विभूषित भी दुर्जन से दूर रहना ही उचित है; क्योकि मणि धारण करने वाला सर्प भी क्या भयकर नही होता ?

सज्जनो! आशा है आपने भली-भाँति समझ लिया होगा कि आर्य पुरुप कौन और अनार्य कौन है ? स्थानाग सूत्र मे चार प्रकार के पुरुषो का उल्लेख करते हुए आर्य और अनार्य व्यक्तियो के विपय मे जो बताया गया है उसे मैंने आपके सामने विस्तृत रूप से रखने का प्रयत्न किया है। साराश यही निकलता है कि जो व्यक्ति उच्च आचार-विचार का होता है वह आर्य कहलाता है और विचारो से गिरा हुआ तथा आचारहीन हुआ अनार्य। शास्त्रो मे आर्यों के विभिन्न अपेक्षाओ से नौ प्रकार भी माने गए है —

खेत्ते जाईकुल कम्मसिप्प भासाइ नाणचरणे य।
दसण आरिय णवहा मिच्छा सग जवणखसमाई ॥

क्षेत्र, जाति, कुल, कर्म, शिल्प, भाषा, ज्ञान, दर्शन, तथा चारित्र, इस प्रकार नौ अपेक्षाओ से आर्य कहलाते हैं।

क्षेत्र के आर्य से तात्पर्य है आर्य क्षेत्र मे रहने वाला या जन्म लेनेवाला। भरतक्षेत्र मे साढे पच्चीस आर्यक्षेत्र माने जाते हैं। शेष आर्यक्षेत्र चक्रवर्तीविजयो मे होते हैं। तीर्थंकर, बलदेव वासुदेव, चक्रवर्ती आदि सभी इसी क्षेत्र मे जन्म लेते है। आर्य क्षेत्र वह है जहाँ पापकार्यों की रोक तथा धर्मकार्यों मे प्रवृत्ति होती है। आर्यभूमि मे स्वभावत ऐसे संस्कार जागृत हो जाते है जिनसे पाप

कार्यों के प्रति घृणा होती है। वहाँ पापचरण न होता हो, ऐसा तो नही कहा जा सकता किन्तु पाप का आचरण हेय माना जाता है। जन समाज द्वारा वह अनुमोदित नही होता। स्वत ही वहाँ पापकृत्य त्याग देने की ओर प्रवृत्ति रहती है।

कुछ देश ऐसे होते है जहाँ के सस्कार निकृष्ट होने के कारण बालक जन्म से ही हिंसक और दुर्बुद्धि वाले बन जाते हैं और ज्यो-ज्यो वे बडे होते हैं उनकी दुर्वृत्तियाँ भी बढती जाती है। किन्तु आर्य क्षेत्रो मे ऐसा नही होता। वहाँ तो बालक जन्म से ही माता के उच्च सस्कारो को प्राप्त करने लगते है और बडे होने पर परिजन, परिवार आदि से उत्तम सस्कारो को ग्रहण करते हैं। आर्य क्षेत्र मे जन्म लेने वाले और आर्य सस्कारो को ग्रहण करने वाले ही आर्यत्व की रक्षा करते है।

उच्च जाति मे जन्म लेने वाले जाति-आर्य माने जाते है। जाति का अर्थ मातृपक्ष है। जिसका मातृपक्ष उत्तम सस्कारो से सम्पन्न हो वह जात्यार्य है। इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, ज्ञात, एव कुरु आदि आर्यजातियाँ है। ऊँची जाति वाले परिवार मे प्राय ऊंचे सस्कार होते हैं अत उनमे पलने वाली सतान भी ऊँचे विचारो को सहज ही ग्रहण कर सकती है। बालक की प्रथम शिक्षा मा की गोद मे होती है। अतएव माता के जैसे सस्कार होते हैं वैसा ही बालक बन जाता है और बचपन के सस्कार ही बडे होने पर विकसित होते हैं।

तीसरे प्रकार के आर्य कुल से माने जाते है। चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, कुलकर आदि की विशुद्ध वशपरम्परा मे उत्पन्न होने वाले कुलार्य कहलाते है। साधारणतया पितृपक्ष कुल कहलाता है। जिसका पितृपक्ष कुलीन होता है वह पुरुष प्राय स्वभावत ही उच्च गुणो का धारक बन जाता है। कुलीन बालक को उत्तम विचारो वाला बनाने के लिये विशेष परिश्रम की आवश्यकता नही होती। महान् और उच्च कुल मे उत्पत्ति स्वय ही एक बडा सम्मान समझा जाता है। यदि मनुष्य उसी के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करता है तो सर्वत्र, सर्वोच्च आदर का पात्र बन जाता है। सत्पुरुष तो अपनी-अपनी कुलमर्यादा के लिये समय आने पर अपने प्राणो का भी बलिदान कर देते हैं। कुल को निष्कलक बनाए रखने के लिये ही चाणक्य ने कहा है —

वरयेत् कुलजां प्राज्ञो, विरूपामपि कन्यकाम्।
रूपशीलां न नीचस्य विवाह सदृशे कुले॥

अर्थात् कुलीन कन्या कुरूप भी हो तो भी उससे विवाह कर लो। किन्तु नीच सस्कारो वाली कन्या सुन्दर हो तो भी विवाह कदापि मत करो।

कर्म से आर्य होना आर्यो का चौथा प्रकार है। कुछ व्यक्ति दुर्भाग्यवश उच्च कुल मे जन्म नही ले पाते किन्तु उनका कर्म उच्च होता है। अत वे कर्म-आर्य कहलाते हैं। यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, कृषि, लेखन, वाणिज्य आदि शिष्ट व्यवसाय कर्म माने गए हैं। बुनकर, कुम्हार, नाई, रुई धुनकने वाले आदि शिल्पार्य कहलाते हैं, जिनकी जीविका लोक मे निन्दित नही तथा महापाप वाली नही है।

ससार मे कुछ न कुछ कार्य तो प्रत्येक मनुष्य अपनी आजीविका के लिये करता ही है। किन्तु उन कार्यो मे से अनेक कार्य ऐसे होते है जिनमें बेईमानी, अनैतिकता और जीवहिंसा का अश अधिक मात्रा मे होता है। उससे बचकर अल्पसावद्य वाली शिल्पकला को अपनाने वाला व्यक्ति शिल्पार्य कहा जाता है।

भाषा के द्वारा भी आर्य पुरुष की पहचान होती है। शिष्ट पुरुष जिस भाषा का प्रयोग करते है, जो भाषा लोकप्रसिद्ध होती है और शिशुओ की भाषा के समान अस्पष्ट न होकर स्फुट या व्यक्त होती है, वह आर्य कहलाती है। ऐसी भाषा का प्रयोग करने वाले भाषार्य कहे जाते हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र जिन्हे प्राप्त हैं वे दर्शन, ज्ञान और चारित्र से आर्य कहे गए हैं। ये तीन आर्य पुरुष के सर्वोत्तम आभूषण है। इन तीनो से अलकृत होकर वह नवीन कर्मों के आगमन को रोकता है और पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करता है।

बधुओ! आपने आर्यत्व के इन नौ प्रकारो को भली-भाँति समझ लिया होगा। मनुष्य अन्य बातो मे तथा अपने अन्य गुणो के द्वारा अनार्य होने पर भी इन नौ में से एक-एक के कारण भी आर्य कहा जाता है।

किन्तु क्षेत्र, कुल, जाति या भाषा आदि से आर्य होकर भी अगर कोई सम्यग्दर्शन द्वारा आर्यत्व प्राप्त नही करता तो उसकी आत्मा का कल्याण नही हो सकता। क्षेत्र, जाति, कुल आदि की अनुकूलता या श्रेष्ठता से मनुष्य को अपना जीवन उच्च और पवित्र बनाने की सुविधा प्राप्त होती है। इस सुविधा से लाभ उठाकर जो रत्नत्रय की साधना करते हैं वही वास्तव मे आर्य कहलाने के पात्र हैं।

मनुष्य कैसा बने ?

इस चमत्कारपूर्ण तथा रहस्यमय सृष्टि मे हम प्रतिदिन विभिन्न प्रकार की वस्तुएं तथा विभिन्न प्रकार के जीवो को देखते हैं। एक ओर जहाँ इस पृथ्वी मे से ककर-पत्थर, कोयला, सोना-चाँदी तथा हीरे आदि कम मूल्यवाली और अधिक से अधिक मूल्यवाली वस्तुए निकलती हैं तो दूसरी ओर इसी पृथ्वी पर कीडे-मकोडे, मक्खी-मच्छर, साँप-बिच्छू, शेर-भालू तथा मनुष्य जैसे अनेको प्रकार के प्राणी भी जन्म लेते है।

अनेकानेक प्रकार के जीवो मे मनुष्य सबसे श्रेष्ठ और शक्तिशाली प्राणी है किन्तु मनुष्यो मे भी उत्तम, मध्यम तथा जघन्य सभी तरह के मनुष्य पाए जाते हैं। कोई उत्तम कुल और जाति वाला, कोई गुणवान् तथा नीतिमान्, कोई सुन्दर और सदाचारी होता है तो कोई असदाचारी तथा रूप-गुण-विहीन मनुष्य भी होते है। इस सृष्टि की बडी अद्भुत बात यही है कि एक-सा शरीर, एक-सी इन्द्रियाँ तथा एक सरीखा रग-रूप होने पर भी प्रत्येक मनुष्य मे प्राय एक-दूसरे से भिन्नता पाई जाती है।

आज हम ठाणाग सूत्र की एक चौभगी के अनुसार चार प्रकार के वृक्ष बताते हुए उसी आधार पर चार प्रकार के मनुष्यो के विषय मे विचार करेंगे। चौभगी इस प्रकार है :—

"चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता, तजहा—(१) उण्णए नामेगे उण्णए, (२) उण्णए नामेगे पणए, (३) पणए नामेगे उण्णए, (४) पणए नामेगे पणए। एवामेव चत्तरि पुरिसजाया पण्णत्ता ।

—स्थानाग सूत्र, स्था ४ उ सूत्र २

प्रथम प्रकार के वृक्ष वे हैं जो अपनी जाति से भी उन्नत होते हैं और मधुररसपूरित उत्तम फल प्रदान करने के कारण भी उन्नत या उच्च कोटि के होते हैं। उदाहरण के लिए आम्र वृक्ष को ले सकते हैं। आम का वृक्ष स्वभावतः उन्नत अर्थात् ऊँचा होता है और सुस्वादु फल प्रदान करता है, साथ ही सघन छाया भी।

दूसरे प्रकार के वृक्ष वे है जो द्रव्य से उन्नत होते है किन्तु न फल ही प्रदान करते है और न छाया ही दे पाते है, जैसे ताड का वृक्ष। आकार मे वह बहुत ऊँचा होता है किन्तु उससे किसी को कोई लाभ नही होता। न वह फल ही देता है और न पथिको को छाया ही प्रदान कर सकता है।

तीसरी श्रेणी मे वे वृक्ष आते है जो आकार-प्रकार से प्रणत, अर्थात् हीन होने पर भी लाभ की दृष्टि से अत्यन्त उन्नत (उत्तम) होते है जैसे चदन का वृक्ष। वह देखने मे नीचा होता है किन्तु गुणो मे महान् होता है। अनेक बीमारियो का नाश करता है तथा अपनी मनोहर सुगन्ध से आसपास की वस्तुओ को सुगन्धित कर देता है।

चौथे प्रकार के वृक्ष द्रव्य तथा भाव दोनो ही प्रकार स हान होते हैं। यथा—आक का पेड। यह आकार से छोटा तथा लाभ की दृष्टि से भी हीन होता है।

वृक्षो के उन्नत तथा प्रणत रूप के आधार पर चौभगी मे आगे बताया है कि इसी प्रकार मनुष्य भी चार प्रकार के होते है।

प्रथम प्रकार के पुरुष वे कहलाते है जो जाति तथा कुल से भी उच्च होते है और लोकोत्तर ज्ञान तथा क्रिया के द्वारा भी उन्नत होते है। ऐसे व्यक्ति शुभ गति प्राप्त करते हैं और कर्मों का नाश करके भव-भ्रमण से मुक्त हो जाते हैं।

भरत चक्रवर्ती ऐसे ही महापुरुष थे। महान् ऐश्वर्यसम्पन्न कुल मे वे उत्पन्न हुए थे और बाद मे भी उन्होने प्रव्रज्या धारण करके अपनी अटूट साधना द्वारा मुक्तावस्था को प्राप्त किया।

वास्तव मे महापुरुष वही होता है, जिसका जीवन आद स अन्त तक उच्च बना रहे और वह ससार के लिये आदर्श बन सके। ससार के प्राणियो के नेत्र स्वय ही उसकी ओर उठ जाएँ। ऐसी आत्मा को खोजने का आवश्यकता न पडे। उसके गुणो का सौरभ स्वय ही उसकी विद्यमानता का सदेश जन-जन तक पहुँचा दे। कहते भी हैं—"न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्।"

वास्तव मे ससार ही महापुरुष को ढूढता है न कि महापुरुष ससार को। महापुरुष ससार के ज्ञान को अपने माहात्म्य से ही ग्रहण करते है, और ग्रहण करने के बाद उसे अपने जीवन मे उतारकर जगत् मे उसकी सच्चाई का प्रकाश फैला देते है।

ऐसी दिव्य आत्माओ के हृदय की कोई थाह नही पा सकता । दीन, दरिद्र तथा पीडित व्यक्तियो के लिये उनके हृदय मे दया, स्नेह तथा सहानुभूति का सागर उमडता रहता है । अपने प्राण देकर भी वे विपद्ग्रस्त जीवो की रक्षा करते है और विषय-भोगो तथा ससार के आकर्षणो से अत्यन्त दृढतापूर्वक मुख मोड लेते है । तभी कहा जाता है —

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणा चेतासि को हि विज्ञातुमर्हति ॥

उत्तम पुरुषो का हृदय वज्र से भी कठोर तथा फूल से भी कोमल होता है । उसे जानने मे कौन समर्थ हो सकता है ?

अपने लिये महान् कठोर होने पर भी औरो के लिये वे अत्यन्त कोमल होते है । बचपन से ही उनमे इन गुणो का बीज विद्यमान रहता है और वह सतत वर्धमान होता रहता है । बाल्यावस्था होने के कारण शारीरिक शक्ति अधिक न होने पर भी उनकी मानसिक शक्ति अत्यन्त प्रबल होती है ।

एक बार इग्लैंड के राजा जेम्स द्वितीय के पौत्र प्रिंस चार्ल्स प्रथम, जार्ज के सेनापति से परास्त होकर प्राण बचाने के लिये स्काटलैंड की पहाडियो मे जाकर छिप गया ।

घोषणा की गई कि जो कोई उसका मस्तक काटकर लाएगा, उसे चार लाख रुपये इनाम के तौर पर दिये जाएँगे । धन के लोभ मे आकर अनेक व्यक्ति खोज मे दौड पडे । वास्तव मे ससार मे सभी व्यक्ति तो महापुरुष होते नही । लालच मे आकर कोई भी अनर्थ कर डालने के लिये अधिकतर मनुष्य तैयार रहते हैं । किन्तु कोई-कोई मनुष्यरत्न ऐसे भी होते हैं जिनके लिये धन-सपत्ति तथा अपने प्राणो का भी कोई मूल्य नही होता ।

तो चार्ल्स की खोज मे घूमने वाले एक केप्टन को मार्ग मे एक बालक दिखाई दिया । केप्टन ने बच्चे से ही पूछ लिया—क्या तूने प्रिन्स चार्ल्स को देखा है ? बालक बोला—हाँ जाते हुए मैंने देखा है, परन्तु आपको यह कदापि नही बता सकता कि मैंने उन्हे कब और किस मार्ग से जाते हुए देखा है ।

केप्टिन बालक की बात सुनकर चकित और क्रोधित हो गया । उसने तुरन्त तलवार निकाली और बालक को मार डालने की धमकी दी । किन्तु धमकी का कोई फल नही निकला । बालक ने चार्ल्स के विषय मे कुछ भी नही बताया ।

क्रोध मे आकर केप्टिन ने बालक पर तलवार से प्रहार किया। चोट लगने के कारण बच्चे के मुख से पीडासूचक कराह निकल पडी। फिर भी उसने निर्भयतापूर्वक कहा—मैं आपके घातक प्रहार के कारण चिल्लाया हूँ किन्तु तलवार से डरता रचमात्र भी नही हूँ। सकट मे पडे हुए अपने राजा को शत्रु के हाथो मे फँसाने के लिये मैं आपका सहायक कदापि नही बनूँगा, चाहे आप मुझे जान से मार डाले। मैं मेक्फर्सन वश का बालक हूँ, मुझे आप कितना भी कष्ट क्यो न दें, अपने निश्चय से कभी भी विचलित नही होऊँगा।

केप्टिन उस बालक की अद्भुत दृढता से अत्यत प्रभावित हुआ और उसने बालक को प्रसन्न होकर चाँदी का क्रास इनाम मे दे दिया। मेक्फर्सन वश के लोग अब तक भी उसे अत्यत सम्मानपूर्वक रखते हैं और उस बालक को जो आगे चलकर एक महान् पुरुप बना, अत्यत आदरपूर्वक स्मरण करते हैं।

इस प्रकार, जैसा कि चौभगी मे बताया गया है—'उण्णए नामेगे उण्णए' कोई व्यक्ति जाति, कुल से भी उच्च और गुणो से उच्च होते हैं अथवा प्रारम्भ मे भी और आगे चलकर भी अपने कार्यों तथा विचारो से उच्च बने रहते हैं। वे जीवनपर्यंत ससार का भला करने के प्रयत्न मे रहते है और अत मे अपना भी कल्याण करते है।

दूसरे प्रकार के मनुष्यो के लिये चौभगी मे कहा गया है—"उण्णए नामेगे पणए" अर्थात् जाति कुल आदि से तो उन्नत किन्तु गुणो से उच्च नही ऐसे व्यक्ति सासारिक दृष्टि से सफल हो सकते है, कुल तथा जाति की परम्परागत महत्ता के कारण अपना स्वार्थ साधन करने मे समर्थ भी हो सकते है, अपने भोग-विलासो के साधन भी जुटा लेते है किन्तु उनके द्वारा ससार मे किसी का भला नही हो सकता और न ही वे परलोक के लिये पुण्यकर्मों का सचय कर पाते है।

उच्चवश मे उत्पन्न होने से मनुष्य को समाज से सम्मान मिलता है। किन्तु जो व्यक्ति अपना जीवन भी उस सम्मान के योग्य बनाता है वही आदर व सम्मान का वास्तविक पात्र बनता है, अन्यथा आगे चलकर वह अपकीर्ति का भागी बनता है। कुल की प्रतिष्ठा को मनुष्य अपने सौजन्य, सद्व्यवहार तथा नम्रता से अक्षुण्ण रख सकता है।

जाति तो कृष्ण और कस दोनो की एक ही थी। उच्च वश मे दोनो ने जन्म लिया था। किन्तु कृष्ण अपने गुणो के कारण जगन्माननीय बने और

कस अवगुणो के कारण तिरस्कार का पात्र बनकर रह गया । उच्च कुल मे जन्म लेकर भी उसमे उच्च गुण नही थे । वर्षों अपने बहन-बहनोई को उसने कैदखाने मे रखा । अपनी ही बहन की कई सन्तानो को निर्मम होकर मृत्यु के घाट उतारा और किसी प्रकार बचे हुए अपने भागिनेय कृष्ण पर अनेको जुल्म ढाये ।

ऐसे निकृष्ट व्यक्तियो को उच्च कुल मे जन्म लेने से क्या लाभ ? वे अपने कुल व जाति को भी अपने हीन कर्मों से लज्जित करते हैं। कोई भी मनुष्य उच्च जाति मे जन्म लेने मात्र से महान् नही हो जाता, महत्ता का माप सुकर्मों से किया जाता है । कर्म एक ऐसा दर्पण है जो मनुष्य का सही स्वरूप जगत को दिखा देता है ।

भगवान के दरबार मे जाति का बधन नही माना जाता, दूसरो ने भी कहा है —

शुभ अरु अशुभ कर्म अनुहारी ।
ईश देइ फल हृदय विचारी ।।

जाति व कुल का अभिमान और दभ जिन व्यक्तियो मे होता है वे नीच जाति के मनुष्यो को तिरस्कार और घृणा की दृष्टि से देखते हैं । अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन और आत्मप्रशसा करने मे ही वे बडप्पन मानते हैं । इसके विपरीत, जो पुरुष जातिमान् एव ऐश्वर्यशाली होकर भी अत्यन्त सादगीपूर्ण तथा सात्विक विचारो के होते हैं, उन्हे गरीबो का और पीडितो का दु ख व कष्ट अपना ही मालूम होता है । दीन-दरिद्रो को अभावग्रस्त देखकर उन्हें अपनी अमीरी से नफरत और दुखियो से सहानुभूति होती है ।

न्यायमूर्ति रानाडे को बचपन से ही दीन-दुखियो के प्रति बडी सहानुभूति रहती थी । अपने निर्धन मित्रो को देखकर वे बहुत दु ख का अनुभव करते थे । किसी त्योहार पर उनकी माता उन्हे मूल्यवान् आभूषण पहनाती तो वे उन सभी आभूषणो को अपने कपडे मे छिपा लिया करते थे ।

जब उनके घरवालो ने इसका कारण पूछा तो रानाडे ने उत्तर दिया— हमारे यहाँ दो गरीब छात्र नौकरी करने के लिये आते है । उनके पास कोई आभूषण नही होता, अत मुझे उनके सामने गहने और कीमती कपडे पहनकर उनका प्रदर्शन करने मे शर्म आती है ।

आगे चलकर वही रानाडे न्यायमूर्ति के नाम से प्रसिद्ध हुए । वे सिर्फ

भाषणो को ही सामाजिक समस्याओ का समाधान नही मानते थे, बल्कि व्यवहारवाद के समर्थक थे । आचार के बिना कोरे विचार को वे निरर्थक समझते थे । उच्च से उच्च आदर्श भी किस काम का जो जीवन मे व्यवहृत न होता हो ?

तो उत्तम मनुष्य वही है जो ससार के सामने कुछ अपने व्यवहार द्वारा आदर्श उपस्थित कर सके । जाति, कुल तथा ऐश्वर्य के अभिमान मे चूर होकर औरो को तिरस्कृत करना तथा करुणाहीन होकर अपने ही स्वार्थ का साधन करते रहना आदर्श मनुष्यता नही है । कहते हैं —

जन्म से कोई नीच नहीं,
जन्म से कोई महान् नहीं ।
कर्म से बढ़कर किसी मनुष्य की ।
कोई भी और पहचान नहीं ।।

वास्तव मे वही पुरुष महान् होते है जो उच्च जाति के होकर भी नीच जाति के व्यक्तियो को गले से लगाते है, कुलीन होकर भी अकुलीन व्यक्तियो से सहानुभूति रखते है । ऐश्वर्यशाली होकर भी निर्धनो की सहायता करते हैं और विद्वान् होकर भी अज्ञानियो के गुणो की कद्र करते है ।

अन्यथा उच्च कुल मे जन्म लेकर भी वे उच्च नही कहलाते और अपने वश की ख्याति को मिट्टी मे मिला देते है । हीरे की खान मे से कोयले के समान निकलकर अपने कुल को लज्जित करते है तथा चौभगी मे बतलाए हुए मनष्यो के दूसरे प्रकार को सही साबित करते है ।

तीसरे प्रकार के मनुष्य वे होते है जो कि प्रणत होकर भी उन्नत बनते है । अर्थात् जाति कुल तथा ऐश्वर्य से हीन स्थिति के होकर भी अपने उत्तम गुणो से ख्यातिलाभ करते हैं और मनुष्य-जीवन को सार्थक बना लेते है ।

विधाता जाति और कुल के आधार पर मनुष्यो के भाग्य का निर्माण नही करता । अच्छे और बुरे कर्मों के आधार पर ही भविष्य की गति का निर्माण होता है । मनुष्य चाहे कितना भी धनवान्, रूपवान् और कुलवान् क्यो न हो, अगर उसमे उत्तम गुण नही हैं, वह उत्तम कर्म नही करता, तो उसका धन, रूप और कुल उसके श्रेय के साधन नही बन सकते । महाभारत मे कहा गया है —

मृतास्त एवात्र यशो न येषा,
अन्धास्त एव श्रुतिर्वजिता ये ।

ये दानशीला न नपुसकास्ते
ये कर्मशीला न त एव शोच्या ॥

अर्थात् जिन्होने यश पाने का कोई काम नही किया वे मरे हुए हैं। जिन्होने शास्त्र का ज्ञान प्राप्त नही किया वे अन्धे हैं, जो दानशील नही हैं वे नपुसक हैं और जो कर्मशील नही है वे शोचनीय है।

शुभ कर्म करने के लिये उच्च कुल अथवा उच्च जाति का होना मनुष्य के लिये आवश्यक नही है। हरिकेशी मुनि जाति के चाडाल थे और भगवान् महावीर उच्च कुलीन। किन्तु जिस प्रकार महावीर ने आत्म कल्याण किया उसी प्रकार हरिकेशी मुनि ने भी। दोनो मे क्या फर्क रहा? शास्त्र कहता है—जाति से कोई पतित नही होता। पतित वह होता है जो चोरी, व्यभिचार, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान इत्यादि दुष्ट कृत्यो को करता है, और उनको गुप्त रखने के लिये बार-बार असत्य भाषण करता है।

वास्तव मे अच्छे कार्य करने वाला गुणी व्यक्ति अगर हरिजन भी हो तो भी वह महान् पूज्य और सुगति का अधिकारी होता है। वही भगवान् का सच्चा भक्त माना जा सकता है।

एक बार काशी मे गगा के किनारे ग्रहण के अवसर पर बडा मेला लगा था। कहते हैं कि उस मेले मे शिव तथा पार्वती भी रूप बदल कर आए। महादेव और पार्वती ने सोचा कि आज यहाँ परीक्षा करनी चाहिये कि इतनी जन-सख्या में सच्चा भक्त और निष्पाप व्यक्ति कौन है?

शिवजी पृथ्वी पर लेट गए और मृतप्राय दिखाई देने लगे। पास मे पार्वतीजी अत्यन्त दुखी और शोकाकुल मुद्रा धारण करके बैठ गईं। आने-जाने वाले व्यक्तियो के पूछने पर पार्वती ने अपने पति की मृत्यु के बारे मे लोगो को बताया तथा साथ ही कहा—जो निष्पाप भक्त होगा, वह मेरे पति को जीवित कर सकेगा। साथ ही यह भी कि पापी इस शव को छूते ही मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा।

पार्वती की बात को सुनकर वहाँ सन्नाटा छा गया। यद्यपि मेले मे आए हुए सभी व्यक्ति अपने को भक्तराज मानते थे किन्तु किसी व्यक्ति को शव छूने का साहस नही होता था। कोई भी व्यक्ति अपने प्राण जोखिम मे डालने को तैयार नही हुआ।

सयोगवश एक हरिजन उधर से आ निकला। सब बात सुनकर वह

बोला— बहन ! यद्यपि मै हरिजन हूँ किन्तु प्रयत्न करता हूँ कि तुम्हारे पति जीवित हो जाएँ । मैं अभी स्नान करके आता हूँ, फिर तुम्हारे पति को जीवित करने की कोशिश करूँगा ।

अल्प समय मे ही हरिजन स्नान करके लौट आया । उसने हार्दिक भक्तिभाव से अदृष्ट ईश्वर को हाथ जोडे और मर जाने के भय को किंचित् मात्र भी हृदय मे स्थान न देकर अपने हाथ से शिवजी का स्पर्श किया । स्पर्श करते ही चारो ओर खडी भारी भीड ने एक अद्भुत दृश्य देखा । शिवजी हँसते हुए उठकर बैठ गए । शिवजी ने उठते ही अपने सच्चे भक्त हरिजन को गले से लगा लिया और उनकी आँखो से आनन्दाश्रु बहने लगे ।

बधुओ ! क्या वह हरिजन अछूत होने के कारण हीन था ? वह तो हजारो लाखो व्यक्तियो मे से भी अधिक धर्मात्मा था ।

धर्म का जाति और कुल से कोई सबध नही होता । सच्चा धर्म तो शुद्ध हृदय मे पाया जाता है । धर्म अन्तरात्मा मे पनपता और विकसित होता है अत धर्म आन्तरिक है । सच्चे धर्म का आधार उदारता, विश्वस्तता, मानवता तथा दयालुता की भावनाएँ ही हैं । धर्म ससार के प्रत्येक जीव पर करुणा करना सिखाता है, चाहे वह अमीर हो, गरीब हो, अछूत हो या मनुष्य न होकर कुत्ता बिल्ली अथवा अन्य प्राणी क्यो न हो ।

वैदिक साहित्य मे एक कहानी है- धर्मराज युधिष्ठिर महाभारत का अन्त हो जाने पर दुखी और निराश होकर अपने भाइयो और द्रौपदी के साथ हस्तिनापुर से चल दिये । एक कुत्ता भी उनके साथ चला ।

वे सभी पर्वतो पर चढने लगे । ऊपर चढते चढते रास्ते मे क्लात होकर एक-एक करके द्रौपदी और शेष पाण्डव गिर पडे । वे वही मृत्यु को प्राप्त हुए । किन्तु कुत्ता बराबर धर्मराज के साथ रहा । चलते-चलते धर्मराज स्वर्ग के द्वार पर जा पहुँचे ।

उस समय वहाँ इन्द्र ने प्रकट होकर कहा—धर्मराज ! आपका स्वागत है । आप स्वर्ग मे प्रवेश कीजिये, किन्तु इस अपवित्र श्वान का त्याग कर दीजिये । इसको साथ लेकर आप स्वर्ग मे नही प्रविष्ट हो सकते ।

युधिष्ठिर ने कहा—देवराज ! यह कुत्ता तो मेरे साथ ही रहेगा । इसे मैं अपने से अलग नही कर सकता । इन्द्र ने मुसकराते हुए व्यग किया—आपने पत्नी एव भाइयो का तो त्याग कर दिया । उनका ममत्व आपको

आकर्षित नही कर सका तो फिर इस कुत्ते के प्रति इतना ममत्व क्यो ? यह अपवित्र है फिर भी इतना स्नेह ?

युधिष्ठिर ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—"भाई और पत्नी का मैंने जीवित अवस्था मे त्याग नही किया। मृत्यु के पश्चात् शव को छाती से चिपटाए रखना मूढता है। यह कुत्ता जीवित है और इसने इस लम्बी यात्रा मे मेरा साथ दिया है। स्वार्थ के लिए साथी का त्याग करना विश्वासघात और धोखा है। इस मूक जीव ने कदम से कदम मिलाकर यह कठिन यात्रा मेरे साथ की है और इस मजिल तक भी इसने मेरा साथ नही छोडा। अपने ऐसे सहयोगी को मैं छोड नही सकता। अगर इसके साथ मैं स्वर्ग मे प्रवेश नही कर सकता तो कोई बात नही है। मुझे स्वर्ग नही चाहिये। मैं स्वर्ग से बाहर ही रहूँगा।

धर्मराज की इस अपूर्व धर्म-निष्ठा एव दृढ विचार से इन्द्र बहुत ही प्रभावित हुए। जब उन्होने यह जान लिया कि युधिष्ठिर कुत्ते का साथ न छोडकर स्वर्ग का मोह त्यागने को तैयार हैं, तो उन्होने दोनो के लिये स्वर्ग का द्वार खोल दिया।

यह कोई इतिहास नही, रूपककथा है। जैन परम्परा के अनुसार युधिष्ठर ने मुक्ति प्राप्ति की। फिर भी इस कथा को कहने का आशय यही है कि मनुष्य के हृदय मे मनुष्येतर प्राणियो के प्रति भी गहरी सहानुभूति होनी चाहिए।

हीन कुल एव जाति मे जन्म लेने वाला मनुष्य तो आखिर मनुष्य ही है। उसके प्रति दुर्भावना रखने वालो को शुभ फल प्राप्त होना असभव है।

जो महापुरुष जाति व कुल से हीन होकर भी सुकर्म करते हैं, जिनका हृदय पवित्रता की ज्योति से जगमगाता रहता है, वे देवता ही नही, परमात्मा बनने के अधिकारी हो जाते हैं। कीचड मे कमल के समान उनका जीवन सौरभमय और सर्वगुणसम्पन्न होता है। प्रत्येक प्राणी उनके गुणो के कारण श्रद्धा से उनके समक्ष मस्तक झुकाने को स्वत प्रेरित हो जाता है।

वास्तव मे जाति, कुल तथा ऐश्वर्य से रहित अवस्था मे समय गुज़ारने के बावजूद भी जो व्यक्ति अपने बाहुबल से, अपनी मानसिक दृढता से जीवन को उन्नत बनाता है वह अत्यन्त प्रशसा का पात्र है। सोना जिस प्रकार घिसने से, काटने से, पीटने से तथा तपाने से शुद्ध होता है उसी प्रकार महापुरुष

अनेको कठिनाइयो, विपत्तियो तथा अभावो मे से गुजरके साधु-पुरुष बनते हैं। कहा गया है —

> यथा चतुर्भि कनक परीक्ष्यते,
> निकर्षणच्छेदन ताप ताडनै ।
> तथा चतुर्भि पुरुष परीक्ष्यते,
> त्यागेन, शीलेन, गुणेन, कर्मणा ।।

सोने की तरह मनुष्य की परीक्षा भी चार प्रकार से होती है--त्याग, शील, गुण और कर्म से। महानता का सर्वप्रथम लक्षण त्याग माना जाता है। अपने शुभ लक्ष्य की ओर बढने के लिए दुनिया की सभी वस्तुओ का मोह त्यागने वाला व्यक्ति अपने जीवन को उन्नत बना सकता है, भले ही वह किसी भी जाति का क्यो न हो ! त्याग सब को महत्व प्रदान करता है।

त्याग का अर्थ होता है छोडना। किसी वस्तु के मोह को छोडना अत्यन्त कठिन होता है। कल्पना कीजिए आपके सामने दो व्यक्ति आए हैं। एक के हाथ मे प्याऊ के निर्माणार्थ चन्दा लेने के लिए रसीद बुक है। आप २५) रु० ही उसे देना चाहते हैं और वह १००) रु० लेना चाहता है। दूसरी ओर वह व्यक्ति है जिससे आपको सिर्फ ५) रु० लेने है। और वह अत्यन्त दरिद्रता के के कारण पांच रुपये छोड देने की प्रार्थना कर रहा है, आप उस समय क्या करेंगे ?

मैं समझता हूँ ऐसी स्थिति मे आपके लिए चदा देना तो सरल होगा किन्तु पाँच रुपये का त्याग करना कठिन। किसी पचायत मे पाँच-पच्चीस व्यक्तियो को अपनी राय मे मिलाया तो जा सकता है किन्तु अपनी बात को छोडना असभव होता है।

इसी प्रकार कभी-कभी मनुष्य भावुकता मे आकर किसी बात का वचन तो देते हैं किन्तु उसका पालन करते समय अपने स्वार्थ का मोह छोडना उन्हे कठिन मालूम पडता है। बहुत थोडे व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जो अपने वचन को पूरा करने के लिए अपना स्वार्थ त्याग करते है। तभी किसी ने कहा है :—

> "हैं बिरले ही या जग मे जो कहै सो करें और करैं सो कहै ना।"

मनुष्य की दूसरी कसौटी शील बताई गई है। शील का अर्थ है आचरण। आचरण की उच्चता मनुष्य की उच्चता की द्योतक है। धर्म, सत्य,

सदाचार, बल, लक्ष्मी ये सब शील के ही आश्रय में रहते हैं। शील ही सब गुणो का आधार है। अपनी प्रभुता के लिये चाहे जितने उपाय किये जायँ परन्तु शील के बिना ससार मे सब फीका है —

शील प्रधान पुरुषे, तद्यस्येह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बंधुभि ॥

—वेदव्यास

अर्थात् शील अनमोल रत्न है। उसे जिस मनुष्य ने खो दिया उसका जीना ही व्यर्थ है। वह चाहे जितना धनी अथवा भरे-पूरे घर का हो उसका कोई मूल्य नही रहता।

गुण मनुष्यता की तीसरी कसौटी है। गुणो की ही सर्वत्र पूजा होती है। लिंग अथवा वय की नही —

गुणा सर्वत्र पूज्यन्ते, पितृवशो निरर्थक·।
वासुदेव नमस्यति, वसुदेवं न ते जनाः ॥

—चाणक्य

अर्थात् गुणो का ही सर्वत्र सम्मान होता है, वश का नही। लोग वासुदेव (कृष्ण) को ही वन्दना करते है, उनके पिता वसुदेव को नही।

गुणी व्यक्ति कही भी रहे पर उनके गुण, उनकी ख्याति के लिये स्वय दूत का कार्य करते है। जिस प्रकार केवडे की गध सूँघकर भ्रमर स्वय उनके पास चले जाते है। इसके विपरीत गुणहीन व्यक्तियो के पास कोई नही फटकता। उनके समीपस्थ व्यक्ति भी उन्हे त्याग कर चल देते है। कहा भी है—

गुणहीन नृप भृत्या कुलीनमति चोन्नतम्।
सत्यज्यान्यत्र गच्छन्ति शुष्क वृक्षमिवाण्डजाः ॥

उन्नत कुल मे उत्पन्न किन्तु गुणहीन राजा को छोडकर सेवक भी अन्यत्र चले जाते है। जैसे सूखे हुए पेड को छोडकर पक्षी दूसरे पेड पर चले जाते हैं।

सज्जन व्यक्ति की चौथी पहचान है कर्म। इस विषय मे मैंने अभी वताया था कि मनुष्य की प्रतिष्ठा उसके उत्तम कर्मों से ही होती है। मनुष्य अपने कर्मों से ही ऊँचा वनता है। जाति अथवा कुल से नही।

तो चौभगी के अनुसार वताया गया कि तीसरे प्रकार के मनुष्य वे हैं

जो जाति-कुल आदि से प्रणत होकर भी अपने गुणो से उन्नत बन जाते है। अब हम मनुष्यो के चौथे प्रकार पर आते है। चौथे प्रकार के मनुष्य सदा ही अवनत बने रहते है। कुल जाति आदि से भी वे अवनत होते है और कर्मों से भी अवनत ही रहते है।

उदाहरण के लिये हम कालिक कसाई को ले सकते हैं। वह हीन कुल में जन्म लेकर जीवन भर विचारो से भी हीन बना रहा।

तात्पर्य यही है कि चौभगी के अनुसार चौथी श्रेणी के मनुष्य जन्म से भी नीच होते हैं और जीवन पर्यंत वैसे ही रहते हैं। कोई भी गुरु, कैसा भी उपदेश तथा अच्छे से अच्छा वातावरण भी उनके हृदय को बदल नही पाता। कहा भी है —

नीच निचाई नहि तजे, सज्जन हू के सग।
तुलसी चदन विटप वसि, विष नहि तजत भुजंग ॥

जिस प्रकार विषधर सर्प चदन के पेड पर रहकर भी निर्विष नही होता, उसी प्रकार नीच व्यक्ति सज्जनो के साथ जीवन व्यतीत करते हुए भी अपनी नीचता का परित्याग नही करता।

दुर्जन व्यक्ति न अपना भला कर सकता है और न दूसरो का। इस लोक मे वह सदा औरो का अनिष्ट करता है और परलोक मे महान् दु ख और कष्ट उठाता है। इसीलिये बुद्धिमान् व्यक्ति कहते है कि दुष्ट व्यक्तियो से कभी भी मैत्री नही करनी चाहिये। दुष्ट व्यक्ति अगर दुश्मन है तब तो वह अहित करता ही है किन्तु मित्र बनकर भी अनिष्ट का कारण बनता है। कहा गया है —

दुर्जनेन समं वैर प्रीतिं चापि न कारयेत्।
उष्णो दहति चांगारः शीत. कृष्णायते करम् ॥

अर्थात् दुर्जनो के साथ न मैत्री और न वैर करना चाहिये। वह प्रत्येक स्थिति मे दु ख का कारण बनता है। जैसे— कोयला अगर जलता हुआ हो तो स्पर्श करते ही जला देता है और यदि ठडा हो तो हाथ काला करता है।

दुष्टो की संगति से बचने के लिये विवेकी पुरुष तो यहाँ तक कहते है 'विधाता' भले ही हमे नरक मे भेज दे किन्तु दुष्टो के साथ तो हम स्वर्ग मे भी नही रहना चाहते —

वरु भल वास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देहु विधाता ॥

भाइयो ! आपने चौभगी के अनुसार चार प्रकार के वृक्षो तथा चार भाँति के मनुष्यो के विपय मे समझ लिया होगा। अब आपको विचार कर देखना है कि हम किस श्रेणी के व्यक्ति है ? और हमे किस श्रेणी का वनना है ?

अपने जीवन को महान् अथवा उन्नत बनाने के लिये, जैसा कि मैंने अभी बताया, जन्म से उच्च, कुलीन अथवा ऐश्वर्यसम्पन्न होना आवश्यक नही है। बल्कि विचारो से और कर्मों से ऊचा होना चाहिए। हृदय मे विकारो का न होना और उसका शुद्ध तथा पवित्र होना ही महानता का लक्षण है। मनुष्य उतना ही महान् होगा जितना वह अपनी आत्मा मे सत्य, त्याग, दया प्रेम तथा वैराग्य का विकास करेगा। जिसकी आसक्ति नष्ट हो गई है, जिसका अज्ञान नष्ट हो चुका है और जो परमात्मतत्त्व मे स्थिर है वही अपना कल्याण कर सकता है।

इसलिये अगर आप अपने जीवन को महान् और अपनी आत्मा को को परमात्मा बनाना चाहते हैं तो अपने मन को शुद्ध तथा कर्मों को स्व-पर कल्याणकारी बनाने का प्रयत्न कीजिये। यही अभ्युदय और निश्रेयस का मार्ग है।

•

व्यर्थ समय मत खोओ

बधुओ ! एक दिन मैंने बताया था कि सामायिक का महत्त्व जीवन मे कितना अधिक है, और उसका सही अर्थ क्या है। सामायिक जीवन का एक आवश्यक कर्त्तव्य है और उस कर्त्तव्य का मन, वचन तथा काया की पूर्ण स्थिरता के साथ पालन करना चाहिये। सामायिक के समय मे मन तथा इन्द्रियो पर पूर्ण सयम रखते हुए सम-भावपूर्वक ध्यान, चिंतन, मनन तथा स्वाध्याय आदि, जो आत्मोन्नति मे सहायक हो वे क्रियाएँ करनी चाहिये।

प्राय देखते हैं कि अनेक भाई-बहन मुख पर मुखवस्त्रिका बाँध लेते है और अडतालीस मिनिट का समय किसी तरह से बिताकर सतुष्ट हो जाते है। सामायिक के उस काल में कोई-कोई कुछ पढ लेते है, मन को इतस्तत भटकता हुआ छोडकर साधु-सन्तो के प्रवचन सुन लेते है, भजन गा लेते है अथवा इधर-उधर की बातें करते रहते है। बहनो का तो आधा अथवा उससे भी अधिक समय इधर-उधर की, गृह-कार्य की सास-ननदो की लडाई-झगडो की अथवा किसी की निन्दा तथा चुगली की बातो मे ही व्यतीत होता है।

ऐसी रागद्वेषवर्धक बातें तथा गपशप हमारे शास्त्रो की भाषा मे विकथा कहलाती हैं। सामायिक जैसे महत्वपूर्ण अनुष्ठान के समय मे विकथाएँ करना अत्यन्त अनुचित है। उनसे बचना आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य है। तभी सामायिक सच्ची सामायिक कहला सकती है।

यो तो सामायिक के समय के अतिरिक्त भी अगर इस प्रकार व्यर्थ की बातो मे समय बिताया जाए तो वह समय व्यर्थ खोना है और दोष का भागी बनना है, किन्तु सामायिक के समय तो उनसे बचना ही चाहिए।

अपनी बात शुरू करने से पहले मैं दो शब्दो की ओर आपका ध्यान दिलाना आवश्यक समझता हूँ, प्रथम 'कथा' और द्वितीय शब्द 'विकथा' है। दोनो के अर्थ मे बहुत अन्तर है। साधारणतया कही जाने वाली प्रत्येक बात 'कथा' कहलाती है परन्तु यह शब्द धर्मोपदेश के अर्थ मे रूढ-सा हो गया है।

विकथा का अर्थ है विकार उत्पन्न करने वाली कथा या निरर्थक वार्त्ता। कथा संयम की साधना मे साधक बनती है और विकथा सयम-साधना मे बाधक। साधना मे बाधक होने वाली विकथाओ को चार भागो मे विभक्त किया जाता है। स्थानाग सूत्र मे एक चौभगी है —

"चत्तारि विकहाओ पण्णत्ताओ, तजहा —
इत्थीकहा, भत्तकहा, देसकहा, रायकहा ।"

स्थानाग सूत्र अ. ४

अर्थात् विकथाएँ चार प्रकार की है—

(१) स्त्रीकथा, (२) भक्तकथा (३) देशकथा और (४) राजकथा।

मनुष्य जीवन तीन प्रकार का होता है। साधुजीवन, श्रावकजीवन तथा साधारण जीवन। साधारण जीवन जीने वालो के विषय में हम विचार करते है तो मालूम होता है कि उनके जीवन का अधिकाश भाग व्यर्थ की बातो मे और गपशप मे जाता है।

जहाँ चार आदमी मिलकर बैठते हैं वही व्यर्थ की बातें शुरू हो जाती है, और घटो होती रहती हैं। किन्तु उनके फलस्वरूप क्या हासिल होता है ? कुछ भी नही। गावो मे अलाव के चारो ओर चिलमे फूंकते हुए लोग जो इधर-उधर की बातें करते हैं उनसे आता-जाता तो कुछ भी नही, व्यर्थ ही समय नष्ट होता है और कर्मबन्ध होता है।

बधुओ ! समय के मूल्य को समझो। बातो का अत कभी आता नही। विकथाएँ समय का मूल्य जानने वाले नहीं वरन् निकम्मे आदमी ही करते है। जिन्हे आजीविका की चिन्ता नही, जो दूसरो के परिश्रम पर गुलछर्रे उडाते है और निकम्मे रहते हैं, ऐसे लोग प्राय: विकथाएँ करके अपने जीवन को मलीन बनाते हैं।

बादशाह अकबर को ही लीजिये। एक बार अकबर, बीरबल, काजी तथा हाजी चारो बैठे हुए थे। बादशाह बोले—भाई, कोई कथा कहो, पर शर्त यह हो, कि कोई किसी भी बात से इन्कार न करे। जो इन्कार करेगा उसे एक लाख रुपया देना पडेगा। सभी सहमत हो गए।

सर्वप्रथम बादशाह अकबर बोले—मेरे दादाजी के पास इतने हाथी थे कि अगर एक की पूछ से दूसरा बाँध दिया जाता तो पृथ्वी के एक छोर से

दूसरे छोर तक हाथियो की कतार बन जाती। अकबर की बात को सुनकर सभी ने कहा—"सत्य है'

दूसरा नम्बर काजी का था। उन्होने कहा—एक बार तनिक भी वर्षा नही हुई। बादल आते थे और चले जाया करते थे। नगरनिवासी घबरा गए और मेरे दादाजी के पास आए। मेरे दादाजी ने जनता की घबराहट को देखकर एक ऐसा तीर छोडा कि उससे बादलो मे छेद हो गया और मूसलधार पानी बरस पडा। सबने इस बात के लिये भी 'हाँ' कह दिया।

अब हाजी का नम्बर आया। वे बोले—जब काजीजी के दादाजी ने पानी बरसाया तो खूब पानी बरसा, चारो ओर पानी ही पानी हो गया। फिर भी बरसात रुकी नही तो मनुष्य और ज्यादा घबराए और मेरे दादाजी के पास दौडे। मेरे दादाजी ने एक बहुत लम्बा बाँस लेकर उसे बादलो की ओर पहुँचाया। उस बाँस से उन्होने बादलो को आपस मे मिला दिया। फलस्वरूप पानी बरसना बन्द हो गया।

बीरबल बडे होशियार थे। उन्होने मन मे सोचा—ऐसी व्यर्थ की बाते करने वालो को कुछ न कुछ सीख देनी चाहिये। वे थोडा विचारकर बोले—काजीजी तथा हाजीजी के पिता बडे ही कलाकार थे, किन्तु वे थे बडे ही गरीब। अपनी गरीबी से तग आकर एक बार वे दोनो मेरे दादाजी के पास पहुँचे और दादाजी से एक-एक लाख रुपया दोनो ने उधार लिया। वह रुपया अभी तक वापिस नही दिया गया है। कृपा करके काजी साहब तथा हाजी साहब दोनो मुझे एक-एक लाख रुपया देकर अपने दादाजी के ऋण से उऋण हो।

अब तक सब 'हाँ' कह रहे थे, अब 'हाँ' कहना कठिन हो गया। मगर 'ना' कहना भी महँगा था। अतएव काजी और हाजी बडे घबराए। इस बात से इनकार करें तो एक-एक लाख देना पडता है और स्वीकार करे तब भी। दोनो ही मुँह लटकाकर बैठ गए। कुछ सूझा ही नही कि क्या करे और क्या कहे।

अत मे बीरबल ने उन्हें इस महान् दुख से छुटकारा दिलाते हुए कहा—भाई साहब, मुझे रुपये की आवश्यकता नही, आप लोग एक-एक लाख देंगे भी कहाँ से ? मेरा उद्देश्य तो यही है कि ऐसी बातो से लाभ क्या होता है ? व्यर्थ समय नष्ट होता है और बकवाद करने से कोई न कोई मुसीबत भी सामने आ खडी होती है। इसलिये आइन्दा ऐसी व्यर्थ की कथाएँ कहकर डीगे न हाँकें तथा अपने अमूल्य समय का कुछ सदुपयोग करें। बादशाह काजी तथा

हाजी तीनो ही शरमिन्दा हुए और उन्होने मन ही मन आइन्दा कभी ऐसी व्यर्थ की बातें न कहने का निश्चय किया।

तो बधुओ ! जब साधारण जीवन व्यतीत करने वालो को भी ऐसी विकथाओं से परेशानियाँ उठानी पडती हैं और उनका समय भी व्यर्थ जाता है तो फिर श्रावक के जीवन का महत्व तो बहुत अधिक है। श्रावक की शब्दावली तो तनिक भी व्यर्थ नही जानी चाहिये। श्रावक बारह व्रतो को धारण करते हैं। उनमे से नवमाँ व्रत सामायिक है। सामायिक सम्बन्धी बत्तीस दोप तथा पाँच अतिचार बताए गए हैं। अतिचारो का जिसे ज्ञान होता है वह सामायिक ग्रहण करने तथा पालने के नियमो का बराबर ध्यान रखता है। बत्तीस दोषो मे से कोई भी दोष न लगे इसके लिए भी सावधानी वर्तता है। सामायिक दोपो तथा अतिचारो से रहित होनी चाहिए। तथा चारो प्रकार की विकथाओ मे से एक भी नही करनी चाहिये। तभी सामायिक निर्दोप सामायिक कहला सकती है।

तीसरे प्रकार का जीवन मुनि-जीवन है। मुनि-जीवन तो सभी अन्य जीवनो मे उत्तम है। मुनि का तो सम्पूर्ण जीवन ही सामायिक मे व्यतीत होता है। अत उनके जीवन मे तो विकथाओ का स्थान ही नही होना चाहिए। साधु-जीवन का एक-एक क्षण अमूल्य होता है। एक क्षण भी व्यर्थ चला जाना साधु की साधना में वाधक बनता है। इसलिये मुनि अपने प्रत्येक समय का पूर्ण रूप से सदुपयोग करने का प्रयत्न करते हैं।

ऐसे समय मे, जबकि काल का भीषण चक्र प्रतिक्षण सिर पर मडरा रहा है, साधु, श्रावक तथा सामान्य जीवन व्यतीत करने वाले पुरुपो को विकथाओ का त्याग करके अपने समय को निष्कलक रूप से व्यतीत करने का ही प्रयत्न करना चाहिये।

यो तो प्रत्येक ऐसी कथा, जो आत्मा को स्वानुभूति से विलग करती है, आत्मा को वहिमुख बनाती है, विकथा ही है, परन्तु स्थूल रूप मे उन्हे चार भागो मे बाँट दिया गया है—(१) स्त्रीकथा, (२) भक्तकथा (३) देश-कथा और (४) राजकथा।

स्त्रीकथा का अर्थ है स्त्रियो की जाति कुल तथा रूप आदि के विपय में अनावश्यक चर्चा करना। सद्गृहस्थ को तो अपनी पत्नी के अलावा विश्व की सभी नारियो को माता तथा बहन के समान समझना चाहिये तथा अन्य नारियो

के रग रूप आदि के वर्णन का त्याग होना चाहिये। जो अविवाहित विधुर तथा मोक्षाभिलाषी साधक हैं विशेषतः उन्हे स्त्रीकथा का त्याग करना चाहिये।

नारी के विषय मे अनावश्यक चर्चा करते रहने से हृदय मे विकार उठते हैं और मनुष्य को दोष का भागी बनना पडता है। मन की भावनाओं के विकृत होने पर साधना दूषित हो जाती है और उसका फल अनिष्टकारी होता है। स्त्री के रूप रग आदि की चर्चा हृदय मे काम-विकार को जागृत करती है।

ससार मे प्रलोभन की अनेकानेक वस्तुएँ है। धन के लिए मनुष्य नाना प्रकार के कष्ट सहन करता है, मोह से प्रेरित होकर प्राणी अनेक प्रकार की विडम्बनाएँ भोगता है, यश और कीर्ति के लिये भी पुरुष अनेक छल, कपट और ढोग करता हुआ देखा जाता है, किन्तु इन सभी से जबर्दस्त और उग्र प्रलोभन विश्व मे काम-विकार होता है। काम का प्रलोभन इतना प्रबल होता है कि उससे बचना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इस प्रलोभन ने समस्त ससारी जीवो को अपने चगुल मे फसा रखा है। मूर्ख तो इसमे फंसते ही है किन्तु बडे-बडे विद्वान् और तपस्वी भी नारी के आकर्षण मे पडकर अपना ज्ञान-ध्यान खो बैठते है।

महातपस्वी विश्वामित्र 'मेनका' के प्रति आकर्षित होकर अपनी तपस्या को भूल बैठे थे। आषाढभूति मुनि भी नारियो के रूप पर मुग्ध होकर अपने सयम-मार्ग से च्युत हो गए थे।

आषाढभूति ने बचपन मे ही सयम ग्रहण कर लिया था और युवावस्था आने तक पूर्ण सयम का पालन किया था। किन्तु एक बार सयोग ऐसा बना कि वे विवेक खो बैठे और साधना पथ से विलग हो गए। वे बडे बुद्धिमान् और गुणवान् थे किन्तु वासना का उदय होने पर उनकी विद्वत्ता तथा बुद्धिमत्ता ने भी उनका साथ छोड दिया।

एक बार वे अपने गुरु धर्मरुचि के साथ भ्रमण करते हुए राजगृह नगर मे आए। एक दिन जब वे भिक्षा लाने के लिये नगर मे गए, तो घूमते-घूमते विश्वकर्मा नामक नाटककार के यहाँ पहुँचे। विश्वकर्मा अपने द्वार पर सत को देखकर बडा प्रसन्न हुआ और उसने अपने हाथो से आषाढभूति के पात्र मे भिक्षा के साथ एक मोदक भी दिया।

आषाढभूति वहाँ से चल दिये किन्तु रास्ते मे उन्हे ध्यान आया कि

लड्डू तो पात्र मे एक ही है। ले जाकर गुरु को दिखाना पड़ेगा और देना पड़ेगा। तब फिर मेरे हिस्से मे क्या आएगा ? यह सोचकर उन्होने अपना रूप-परिवर्तन किया और पुन विश्वकर्मा के यहाँ जा पहुँचे। विश्वकर्मा ने फिर मोदक पात्र मे दिया और मुनि वहाँ मे रवाना हो गए। किन्तु रास्ते मे फिर उनके मन मे आया कि उपाश्रय मे उपाध्याय तथा अन्य सत भी तो है, क्या होगा दो मोदको से ?

परिणामस्वरूप तीसरी बार रूप बदलकर वे विश्वकर्मा के यहाँ आए और फिर मोदक ले गए। इसी प्रकार तीन बार वे रूप बदलकर आए और लड्डू उन्होने ले लिये। विश्वकर्मा भी चतुर था। उसने समझ लिया कि यह मुनि रूप बदलने मे सिद्धहस्त हैं और इसीलिये बार-बार भिक्षा के लिये आ जाते हैं।

साथ ही विश्वकर्मा के हृदय मे यह विचार भी आया कि यह मुनि रूप बदलने मे पारगत है, अगर मेरी नाटकमडली मे आ जाए तो कितना अच्छा रहे। यह सोचकर जब पुन आषाढभूति उसे दूर से आते दिखाई दिये तो उसने अपनी दो पुत्रियो को, जिनका नाम रम्भा और शची था, मुनि को भिक्षा देने के लिये खडा कर दिया।

जब चौथी बार आषाढभूति भिक्षा के लिये पहुँचे तो रभा और शची ने मुस्कराते हुए उन्हे मोदक भिक्षा मे दिये। रभा और शची को देखकर आषाढभूति के मन मे विकार का अकुर पैदा हो गया और वे उस घर मे बार-बार आने-जाने लगे। जब विश्वकर्मा की पुत्रियो ने आषाढभूति को अपनी ओर पूरी तरह से आकर्षित हुआ देखा तो उन्होने एक दिन मुनि से विवाह का प्रस्ताव किया।

आषाढभूति भोग के आकर्षण से खिंच तो चुके ही थे, उन्होने विवाह के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया--सोचने लगे। अभी तो जीवन बहुत लम्बा है। कुछ दिन सासारिक सुख का आनन्द उठाकर फिर आत्म-कल्याण कर लूँगा।

उसी समय वे अपने गुरु धर्मरुचि के पास पहुँचे और उनके समक्ष रजोहरण और पात्रो को रखकर बोले—गुरुजी ! मैं विश्वकर्मा नाटककार की पुत्रियो से विवाह करके कुछ समय ससार का सुख भोगना चाहता हूँ।

गुरुजी बडे दु खी हुए और उन्होने आषाढभूति को समझाने की कोशिश

की। किन्तु उनका प्रयत्न विफल हुआ। "विनाशकाले विपरीतबुद्धिः" यही कहावत उस समय चरितार्थ हुई। अत मे आषाढभूति के किसी भी तरह न मानने पर गुरुजी ने उनसे कहा—वत्स, नही मानते हो तो तुम्हारी मर्जी, किन्तु मास-मदिरा का तो त्याग कर दो।

आषाढभूति ने मास तथा मदिरा दोनो का सहर्ष त्याग कर दिया। गुरुजी को नमस्कार करके वे चल दिये। सीधे विश्वकर्मा के यहाँ पहुँचे और वहाँ जाकर उसकी पुत्रियो से विवाह करके नाटकमडली मे शामिल हो गए। थोडे से समय मे ही बडे कुशल नाटककार के रूप मे उनकी ख्याति फैल गई।

एक बार उनकी नाटकमडली घूमती-फिरती हुई पुन राजगृह नगर मे आ पहुँची। वहाँ के राजा ने आषाढभूति की ख्याति सुनकर उन्हे बुलाया और वीररसपूर्ण एक नाटक खेलने के लिये कहा। साथ ही यह भी कहा कि उसमे स्त्रीपात्र नही होने चाहिये। आषाढभूति ने यह प्रस्ताव मजूर कर लिया और उसी रात्रि को ठीक समय पर राजमहल मे नाटक करने के लिये वे अपने दल के साथ पहुँचे।

आषाढभूति के घर से प्रस्थान करते ही रभा और शची ने विचार किया नाटक तो तीन-चार बजे रात तक खत्म होगा। क्यो न हम मास खाएँ और मदिरा का आस्वादन करें? आषाढभूति के कारण तो कभी भी इनका सेवन नही कर पाती। इस विचार को दोनो ने तुरन्त कार्य रूप मे परिणत किया और जी भर कर मास मदिरा का सेवन किया। मदिरा के तीव्र नशे के कारण बहुत शीघ्र ही दोनो बेसुध होकर गिर पडी और उसी प्रकार भूमि पर पडी रही।

सयोगवशात् जब आषाढभूति राजा के यहाँ पहुँचे तो अचानक ही किसी अन्य राजा के आक्रमण के समाचार मिल जाने के कारण राजा ने उस दिन के नाटक को स्थगित कर दिया। आषाढभूति वहाँ से अपने घर रवाना हो गए। घर आकर वे क्या देखते हैं कि उनकी दोनो पत्नियाँ शराब के नशे मे बेसुध होकर अस्तव्यस्त व अर्धनग्न अवस्था मे पडी हुई हैं। उनके मुँह से फेन निकल रहे है और मुँह से मास तथा मदिरा की दुस्सह दुर्गंध आ रही है।

यह देखते ही आषाढभूति का मन एकदम ग्लानि और खिन्नता से भर गया। वे सोचने लगे—अहो! मैंने इन स्त्रियो के लिये अपने अमूल्य सयम का त्याग किया किन्तु ये दोनो मेरे लिये मास-मदिरा का भी त्याग नही कर

सकी। उसी क्षण मानसिक परिणति मे परिवर्त्तन हुआ। उनकी उसी क्षण काम-वासना शान्त हो गयी और उन्होने गृहत्याग करने का विचार कर लिया।

जब विश्वकर्मा को यह सब ज्ञात हुआ तो उसने अपनी लडकियो को बहुत फटकारा और उनसे आषाढभूति को न जाने की प्रार्थना करने के लिये कहा। रमा और शची ने आषाढभूति से बहुत अनुनय-विनय की, अपने किये की क्षमा माँगी और कहा—आप अगर गृहत्याग कर चले जाएँगे तो हमारी आजीविका का क्या होगा ?

पर आषाढभूति तो दृढ निश्चय कर चुके थे। उनका चैतन्य जागृत हो चुका था। सयम मे पुन रुचि जागी और हृदय निर्मल हो गया। तनिक-सी ठोकर लगने की ही देर थी और वह अब लग चुकी थी। अत उन्होने अपने दृढ निश्चय को किसी मूल्य पर बदलना स्वीकार नही किया।

उसी रात्रि को उन्होने अपने अतिम नाटक का आयोजन किया। उसका नाम था 'विदा'। विदा नामक नाटक मे उन्होने भरत चक्रवर्ती की कथा जनता के सामने प्रदर्शित की। उसमे बताया गया कि भरत अपने आदर्श-भवन मे बैठे है। उस समय उनके हाथ की अगुलि से एक अगूठी निकल कर गिर पडी। अगूठी के निकल जाने से अगुलि का सौन्दर्य कुछ कम हो गया। यह देखकर भरत ने विचार किया—अरे! क्या इस शरीर का रूप आभूषणो और वस्त्रो से ही है ? यह कृत्रिम हुआ, मुझे तो ऐसा सौन्दर्य आत्मा का चाहिये जो कभी भी म्लान न हो, कम न हो।

आषाढभूति ने भरत चक्रवर्ती के रूप मे धीरे-धीरे एक-एक आभूषण उतारना प्रारम्भ किया। समस्त आभूषण पृथ्वी पर रख दिये। उसी क्षण उनके मन मे विचार आया कि भरत तो उसी क्षण केवलज्ञान प्राप्त करके निकल गए थे। अगर मेरा हृदय भी इस क्षण मे पूर्ण रूप से नही बदला तो भरत चक्रवर्ती का यह नाटक, जो मैं दिखा रहा हूँ, अपूर्ण ही रहेगा।

यह भावना मन मे आते ही उन्हे आत्मबोध हो गया और वे भरत की तरह ही सब कुछ त्याग कर रवाना होने लगे। राजा ने कहा–आप कहाँ जा रहे है ? अपना पारितोषिक लीजिये। आषाढभूति ने आत्मिक सन्तुष्टि से परिपूर्ण हुए चहेरे पर हल्की सी मुस्कान लाते हुए कहा–राजन्! मैं वही जा रहा हूँ जहाँ भरत गए थे। अन्यथा मैं भरत का पार्ट पूर्ण रूप मे कैसे आपके सामने रख सकूँगा!

नाटक का अवलोकन करने वाली जनता स्तब्ध हो गई । राजा-गण तथा सभासद् निर्वाक् व चकित रह गए । भरत के ऐसे सत्य अभिनय पर रगमच पर धन का अबार लग गया और आपाढभूति के लिये सभी 'वाह-वाह' करने लगे ।

बधुओ ! इस कथा का उद्देश्य यही बताना है कि स्त्रीकथा करने से तथा स्त्री के रंग-रूप का अवलोकन करने से मनुष्य के हृदय मे काम-वासना का जागरण होता है और वह भोग का दास बनकर विवेकभ्रष्ट हो जाता है ।

विषयभोग विषतुल्य होते हैं, इनके कारण सिर्फ धन का ही नही वरन् बुद्धि और बल का भी सर्वनाश होता है । तुलसीदास जी ने कहा भी है—

भोग रोग सम भूषण भारू यम यातना सरिस ससारू ।

"He that lives in a kingdom of sense, shall die in the kingdom of sorrow."

अर्थात् जो वासना के साम्राज्य मे जीता है, वह दु ख के साम्राज्य मे मरेगा । कोई भी ससारी जीव कामवासना के चगुल से नही बच पाता । देवता, मनुष्य, पशु तथा पक्षी सभी इस भयकर व्याधि से ग्रस्त रहते है । वैमानिक, भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिपी सभी देवता विषयो के दास होने हैं । वे भी कामभोगो का सेवन करके महान् दृढ मोहनीय कर्म का बन्धन करते हैं । मनुष्य, देवता और पशु-पक्षियो की बात जाने दीजिए, एकेन्द्रिय होने के कारण जिनमे सज्ञा व्यक्त नही होती, जिनमे चैतन्य की मात्रा भी अत्यल्प होती है वे वृक्ष भी इस प्रलोभन से नही बच पाते । किसी शायर ने कहा भी है—

दरख्तो को सुखाता है, लिपटना इश्क पेचा ।

इसीलिये धर्म मनुष्यो को विषय-वासनाओ से बचने के लिये कहता है । मन, वचन और कर्म से विकारो को दूर हटाने की आज्ञा देता है, इन्द्रियो पर सयम रखने के विधान बनाता है । इन्ही विधानो मे से एक है—स्त्रीकथा न करना तथा स्त्रियो के रूप, रग और अन्य विकारवर्धक विशेषताओ के विषय मे वार्तालाप न करना । इन सब बातो का मुख्य उद्देश्य यही है कि स्त्री-कथा मे बचकर मनुष्य अपनी वासना को उत्तेजित होने से बचाए ।

कम-से-कम सामायिक जैसे महत्वपूर्ण काल मे तो स्त्री-कथा का त्याग करना अनिवार्य है जिस प्रकार पुरुषो को 'स्त्री-कथा' का त्याग करना चाहिये

उसी प्रकार स्त्रियो को 'पुरुष-कथा' का भी परित्याग कर देना चाहिये। वह उनके लिए विकथा है। यह आत्मिक, मानसिक तथा नैतिक सभी प्रकार की उन्नति के लिये आवश्यक है। और इसीलिये ब्रह्मचर्य का विधान बनाकर जैन तथा जैनेतर सभी शास्त्रो ने इस व्रत की महिमा गाई है।

जो मनुष्य इन बातो पर ध्यान नही देते और सदा स्त्रीकथा करके, यानी स्त्रियो के विषय मे व्यर्थ वार्तालाप करके अपने मन को काम-विकारो की ओर उन्मुख कर लेते है उन्हे भयकर हानियाँ उठानी पडती है और अनेक दुष्परिणामो को भोगना पडता है। किसी कवि ने थोडे ही शब्दो मे किस प्रकार मनुष्यो को समझाने का प्रयत्न किया है ? वह कहता है —

ज्ञानी हू को ज्ञान जाय, ध्यानी हू को ध्यान जाय।
मानी हू को मान जाय, सूरा जाय जग ते॥
जोगी की कमाई जाय, सिद्ध की सिधाई जाय।
बडे की बडाई जाय, रूप जाय अग ते॥
घर की तो प्रीति जाय, लोक मे प्रतीति जाय।
त्याग वुद्धि मति जाय, विकल होय ढंग ते॥
सजम का विहार जाय, हानि का उपचार जाय।
जन्म सब हार जाय, काम के प्रसग ते॥

साराश यही है कि काम-विकार सर्वस्व का अपहरण करके इस अमूल्य जीवन को ही व्यर्थ बना देता है।

इसलिये मनस्वी प्राणी के लिये स्त्रियो के विषय मे बात करना, उनकी ओर दृष्टिपात करना, उत्तेजक गीत सुनना, एकान्त मे सभाषण करना तथा विकारोत्पादक आहार करना भी वर्जित माना गया है।

स्त्रीकथा को चार भागो मे विभक्त कर दिया गया है। यथा जाति-कथा, रूपकथा, कुलकथा और नेपथ्यकथा। स्त्रियो से सबधित समस्त विषय इन चार प्रकार की स्त्री-कथाओ मे आ जाते है। बुद्धिमान व्यक्ति को इनमे से किसी प्रकार की अनिष्टकारी चर्चा नही करनी चाहिये।

सामायिक तथा साधना के अन्य काल मे जिन कथाओ का करना वर्जित बताया गया है, उनमे भी प्रथम स्त्रीकथा है, जिसके विषय मे बता चुका हूँ। दूसरी कथा है—भक्त-कथा'।

'भक्त' का अर्थ यहाँ भगवान की भक्ति करने वाला 'भगत' नही वरन् 'भोजन' समझना चाहिए। 'भक्त' का अर्थ 'भोजन' भी होता है। भक्त-कथा अर्थात् भात-कथा, 'भात' भक्त शब्द का अपभ्रंश है।

भोजन जीवन का एक अनिवार्य साधन है। भोजन किये बिना कोई भी व्यक्ति अधिक काल तक जीवित नही रह सकता। जीवन-धारण के लिए भोजन करना ही पड़ता है। इसका निषेध नही किया जा सकता। किन्तु निषेध किया जाता है उसके पीछे रहने वाली लोलुपता का, अमर्यादा का, असंयम का, विवेकहीनता का।

सत-जन भोजन करते है किन्तु उनकी इस क्रिया के पीछे लोलुपता नही रहती। भोज्य पदार्थो के प्रति उनके मन मे आसक्ति का सर्वथा अभाव होता है। साधु भिक्षा के लिए घरो मे जाते है और जो कुछ भी रूखा, सूखा अथवा मेवा, मिष्टान्न प्रासुक और निर्दोष मिल जाता है उसे अनासक्त होकर ग्रहण करते है।

भोजन करते समय न वे मन मे सोचते है और न कहते हैं कि अमुक पदार्थ स्वादिष्ट है और अमुक नीरस या निस्वाद। शरीर साधन के लिए आवश्यक है और शरीर रखने के लिये उसे आहार देना आवश्यक है। सिर्फ इसलिए वे भक्ति-भाव से दिया हुआ सयमाविरोधी जो कुछ भी मलता है उसे उदरस्थ करते है। आहारप्राप्ति के लिये न तो वे अमीरो के द्वार खटखटते है और न किसी तरह उन्हे प्रसन्न करने का प्रयत्न करते है। शात और चचलता रहित चित्त से वे भिक्षा प्राप्त करने के लिये निकलते है और अमीर का या गरीब का जो भी घर रास्ते मे आ जाए उससे अपने नियमानुसार निर्दोष भिक्षा ग्रहण करते हैं। प्रेम और भक्ति से दी हुई रूखी रोटी और चने भी वे सहज भाव से ग्रहण करते हैं पर गर्व तथा तनिक भी उपेक्षा से दिये जाने वाले मिष्टान्न और सुस्वादु पदार्थों की ओर वे दृष्टिपात भी नही करते। इसी भाव को लेकर रहीम ने कहा है —

अमिय पियावत मान बिन, रहिमन मोहि न सुहाय।
मान सहित मरिवो भलो, जो विष देय बुलाय॥

यह तो हुई सत जनो की बात। किन्तु श्रावक तथा अन्य साधारण जनो के लिये भी अहर्निश भोजन सबधी चर्चा करना तथा सुस्वादु भोज्य सामग्रियो के लिए ही हाय-हाय करना अनुचित है। यह सत्य है कि भोजन

किये बिना शारीरिक और मानसिक शक्ति प्राप्त नही हो सकती और न साधना की जा सकती है, जैसा कि कहा जाता है-

भूखे भगति न होई गोपाला।
यह लो अपनी कठी माला।।

किन्तु पेट भरने को ही जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य मान लेना, उसी को जीवन का चरम लक्ष्य समझना मनुष्य की भारी भूल है। जीवन का लक्ष्य भर पेट खाना और सोना नही है, वरन् सात्विक और आवश्यक आहार लेकर शरीर को साधन के योग्य बनाए रखना है।

ससार मे अनेक पेटू व्यक्ति देखे जाते हैं, जो आवश्यक से भी अधिक खाकर अपने शरीर को रोगो का घर बना लेते है। परिणामस्वरूप उनका मस्तिष्क जड हो जाता है और दिमाग-शक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसे व्यक्ति न इस लोक मे ही सुख पाते है और न परलोक मे ही। इसके विपरीत ससार मे ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो स्वय भूखे रहकर भी अपना भोजन अपने से अधिक आवश्यकता वाले मनुष्यो को अथवा पशु-पक्षियो तक को प्रदान कर देते है।

एक शूद्र अपनी स्त्री और दो बच्चो का पेट बडी ही कठिनाई से भर पाता था। कभी-कभी तो उसे सपरिवार उपवास करना पडता था। एक बार उसे दो दिन उपवास करना पडा और उसके बाद बडी ही कठिनाई से सिर्फ छ आने की मजदूरी मिली।

उस छ आने से वह थोडी दाल और चावल खरीद कर घर ले जा रहा था। रास्ते मे घाट पर देखा कि एक ब्राह्मण अत्यन्त उदास भाव से खडा है। शूद्र ने कारण पूछा तो उसने बताया कि तीन दिन से उसके बाल-बच्चो को एक दाना भी अन्न का नही मिला है। अगर आज भी भिक्षा नही मिली तो बच्चे मर ही जाएँगे।

शूद्र दुर्गा का परम भक्त था। अपने दु ख भूल कर उसने दुर्गा को स्मरण किया और वह चावल दाल की पोटली उस दरिद्र ब्राह्मण को दे दी। घर आकर अपनी पत्नी से कहा—आज फिर एकादशी समझो। कल मा दुर्गा की कृपा हुई तो पारणा कर लेंगे। उसकी पत्नी सच्ची पतिव्रता थी। पति की बात को मानकर उसने भी दुर्गा माँ का स्मरण किया और दोनो भगवान् का स्मरण करने बैठ गए।

तात्पर्य यह है कि जिनके हृदय मे खाद्य पदार्थों के प्रति लोलुपता और आसक्ति नही होती, जो उदार और दयालु होते है, वे स्वयं भूखे रह कर भी अपना भोजन बिना हिचकिचाहट के दूसरो को दान कर देते है। उनके लिए भोजन गृद्धता की वस्तु नही होती। उनकी जिह्वा स्वादिष्ट भोजन प्राप्त करने के लिए बावली नही होती। आचाराग सूत्र मे कहा है—

हे साधक! जब तू भोजन करने बैठता है तो स्वाद की दृष्टि से कोई भी वस्तु एक जबडे से दूसरे जबडे पर मत ला।

जिस व्यक्ति का अपनी जिह्वा इन्द्रिय पर नियन्त्रण नही होता उसमे तथा पशु मे कोई अन्तर नही होता। पशु के सामने जब भी कोई वस्तु रख दी जाए वह फौरन उसमे मुंह डाल देता है। इसी प्रकार अनेक व्यक्ति ऐसे होते है, जो खाद्य-अखाद्य का विचार किये विना रात्रि मे भी, जब तक निद्राधीन नही हो जाते, कुछ न कुछ खाते रहते है और प्रात काल शय्या त्यागने से पूर्व ही चाय आदि से खाना-पीना प्रारम्भ कर देते है। ऐसी स्थिति मे पशुओ मे और उनमे क्या फर्क मानना चाहिए ?

भारतीय सस्कृति मे प्रात काल चार बजे का समय ब्राह्ममुहूर्त का माना गया है। वह समय चिन्तन मनन, ध्यान तथा स्वाध्याय आदि पवित्र कार्यों के लिये होता है। उस शुभ समय को भी आप धुआ निकालते-निका--लते व्यतीत कर दें तो क्या यह आपके लिए उचित होगा ? मध्याह्न का तथा सध्या का समय भी इसी प्रकार पवित्र कार्यों के लिए होता है। सिर्फ खाने के लिए अथवा खाने-पीने की चर्चा करने के लिये नही। खाने का समय कौन-सा है, और कौन सा नही, इस बात का पूरा ध्यान रखें। दिन मे असमय मे भोजन न करें और रात्रि को तो पूर्ण रूप से भोजन का त्याग करें। रात्रि को भोजन करने से अनेकानेक सूक्ष्म जीवों का, जो कि अधिक प्रकाश होने पर भी दिखाई नही देते, घात तो होता ही है, साथ ही खाने और तुरत सो जाने से स्वास्थ्य की खराबी हो जाती है।

शरीर मे रोग होने पर मन भी रोगी हो जाता है और उससे प्राय मनुष्य की धर्मबुद्धि नष्ट हो जाती है। धर्मबुद्धि का नाश हो जाने पर मनुष्य महान् नही बन सकता। अल्पाहारी तथा नियत समय पर परिमित एव सात्विक भोजन करने वाला व्यक्ति ही मन पर नियंत्रण रख सकता है। जो मनुष्य अपनी जिह्वाइद्रिन्य को वश मे रखता है वह अनेक बुराइयो से बच जाता है।

वधुओ ! नियमित समय पर भोजन करने के साथ ही साथ आपको यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भोजन सात्त्विक तथा शुद्ध हो ! तामस आहार करने वाला मनुष्य रोगी, दु खी, बुद्धिहीन, क्रोधी, तथा धीरे-धीरे अधर्मी बन जाता है। एक पश्चिमी विद्वान ने कहा है —

If you can conquer your tongue only, you are sure to conquer whole body and mind ease

अर्थात् यदि तुम केवल अपनी रसेन्द्रिय को वश मे कर सको तो तुम्हारा मन और शरीर अनायास ही वश मे हो जाएगा।

भोजन की शुद्धि से भी मन की शुद्धि का सम्बन्ध है। पाप, अन्याय तथा अधर्म की कमाई के द्वारा उपार्जन किये हुए धन से अगर पेट भरा जाए तो वह भोजन क्या मन को पवित्र बना सकता है ? कभी नही। कहते भी है–

जैसा अन्न जल खाइये तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये तैसी वानी होय ।।

वास्तव मे सात्त्विक तथा अल्प मात्रा मे किया गया भोजन ही मानव को स्वस्थ बना सकता है। वह उसके चित्त को शुद्ध बनाकर साधना के योग्य बनाता है। अधिक खाने वाला लोलुप व्यक्ति मन से शुद्ध व निष्पाप नही रह सकता। एक सस्कृत कवि ने अधिक आहार करन से होने वाली हानियाँ बताई हैं —

अनारोग्य, अनायुष्य अस्वर्ग्यंचाऽति भोजनम्।
अपुण्य लोकविद्द्विष्ट तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ।।

अतिभोजन रोगो को बढाने वाला, आयु को घटाने वाला, नरक में पहुँचाने वाला, पाप कराने वाला, जग मे निन्दित बनाने वाला होता है, अत अतिभोजन का त्याग करना चाहिये।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को कभी अशुद्ध और अनियमित आहार नही करना चाहिए और आहार के प्रति गृद्धता या लोलुपता नही रखनी चाहिये। अगर मनुष्य भोज्य पदार्थों के प्रति आसक्ति नही रखेगा तो प्रत्येक समय भोजन की तथा भोज्य प्रदार्थों संबधी अनावश्यक चर्चाओ से भी बचता रहेगा। ऐसी चर्चा प्रत्येक समय तथा विशेषकर सामायिक, स्वाध्याय तथा चिन्तन के समय करना अत्यत गर्हित है। इसलिए भक्तकथा स्थानाग सूत्र मे चार प्रकार की बताई गई है। (१) 'आवाप कथा'-अर्थात् आज जो रसोई बनी है

उसमे मिर्च मसाले आदि क्या २ और कितना सामान व्यय हुआ है, इसकी चर्चा करना। (२) 'निर्वाप कथा'-उसे कहते है जिसमे बनी हुई मिठाइयाँ अथवा पूरी-कचौरी आदि अन्य वस्तुएँ कैसी बनी है, इसकी चर्चाएँ की जाती है। (३) 'आरम्भ कथा'-इसमे वनस्पति आदि का कितना उपयोग हुआ इस प्रकार का वार्तालाप होता है। तथा (४) 'मिष्टान्न कथा' वह कहलाती है जिसमे घृत के विषय मे बातचीत की जाती है, कि घृत कितना व्यय हुआ और वह किस प्रकार का था। इस प्रकार की विकथाएं करके मनुष्य अपने समय का व्यर्थ ही दुरुपयोग करते है। इनसे अवश्य बचना चाहिये।

विकथाओ मे तीसरी 'देश-विकथा' अर्थात् देश विदेश सबधी अनावश्यक बातें करना है। इसका भी विषय चार विभागो मे बाँटा गया है।

प्रथम 'देशविधि' कथा के रूप मे है। अर्थात् किस देश मे कैसी कथोक्तिया प्रचलित है, किस प्रकार की कलाकृतिया निर्मित की जाती है, कैसे-कैसे कलाकार होते है, भोजन विधिया किस तरह की होती है, खाद्यपदार्थ कैसे होते है, किस प्रकार के आभूषण पहने जाते हैं, और किन वस्तुओ के बनाए जाते है, आदि-आदि चर्चा करना।

दूसरी कथा 'देश विकल्प कथा' कहलाती है। अमुक देश मे धान की उपज कैसी और कितनी होती है, फसल एक वर्ष मे कितने बार पैदा होती है आदि निरर्थक बातें करना। जैसे बीकानेर फलौदी तथा खीचन की तरफ रेगिस्तान है। वहा गेहूँ, चने आदि की पैदावार नही होती, इसका तो सवाल ही नही है। उधर चातुर्मास मे ही सिर्फ एक फसल पैदा होती है। एक एक खेत मे कई कई मन अनाज निकलता है। इस प्रकार की बातें 'देश विकल्प' कथा मे आती हैं।

तीसरी है 'देशछन्द कथा'। अमुक देश के व्यक्ति कितने स्वच्छद होते हैं? उनकी स्वच्छदता के क्या कारण है? कहा किन बातो को लोग बुरा मानते हैं और किन बातो को नही? जैसे अमुक देश मे मामा की पुत्री से विवाह करना बुरा नही माना जाता, अमुक देश मे एक स्त्री कई भाइयो से एक साथ विवाह करके रहती है, और अमुक देश मे पुरुषो की जगह स्त्रिया व्यापार-व्यवसाय आदि बाहरी कार्य करती है। पुरुष को गृहकार्य करने पडते हैं। इस प्रकार की समस्त बाते 'देशछन्द कथा' के अन्तर्गत आती हैं।

चौथी है 'देशनेपथ्य कथा'। प्रत्येक देश मे रीति रिवाज भिन्न भिन्न होते

हैं । वस्त्रपरिधान, साजश्रृंगार, वेषभूषा, अलकारधारण आदि की प्रथा विभिन्न प्रकार की होती है । इन सब वातो पर निरर्थक चर्चा करना 'देशनेपथ्य कथा' कहलाती है ।

ऐसी बातें करने से कभी-कभी व्यर्थ ही अनर्थ हो जाता है । एक मनुष्य अपने देश व प्रान्त की सस्कृति को उच्च बनाता है और दूसरा व्यक्ति अपने देश की सस्कृति को । दोनो अपने देश को उच्चता के शिखर पर आसीन करना चाहते है। वार्तालाप का परिणाम क्या होता है ? प्रथम तो गाली-गलौज, उसके पश्चात् हाथापाई, और हाथापाई के बाद कभी-कभी सिर फूटने की अथवा हाथ पैर टूट जाने की भी नौबत आ जाती है । और इसके भी बाद यह होता है कि फिर उन व्यक्तियो में अनेक वर्षों तक और कदाचित् जन्म भर पुन बोलचाल नही हो पाती । इसके अतिरिक्त आत्मा प्रगाढ राग-द्वेष के वोझ से दवी हुई नीच गति की ओर प्रयाण करती है ।

कितनी अज्ञानता है आज मानव के मन मे ? वह यह नही सोच पाता कि भिन्न-भिन्न प्रदेश के मनुष्यो का पहनावा अलग प्रकार का है तो क्या, उनके रीति-रिवाज भिन्न है तो क्या ? आत्मा तो सभी की एक तरह की है । अगर आत्मा मे निर्मलता है तो मनुष्य उच्च है । आत्मिक निर्मलता के अभाव मे देश, जाति, सम्प्रदाय आदि से सिद्धि प्राप्त नही हो सकती ।

आजका मनुष्य अपने सम्प्रदाय को, अपनी जाति को, अपने धर्म को अपने शास्त्रो को उच्च मानता है । उनकी उच्चता सावित करने के लिए रक्त की नदिया तक वहा देता है । उससे क्या लाभ प्राप्त होता है ? क्या मदिर और मसजिद मे धर्म विद्यमान है ? क्या गुरुद्वारे और गिरजाघर मे धर्म रहता है ? क्या स्थानक और उपाश्रयो मे धर्म का डेरा है ? नही ! ! धर्म आत्मा में ही निवास करता है । शुद्ध हृदय वाला प्रत्येक व्यक्ति उसे प्राप्त कर सकता है, और प्रत्येक साधु-पुरुष उसका अनुभव कर सकता है ।

आज तो इस बात को लेकर भी मतभेद होते रहते है कि सच्चे साधु कौन हैं ? प्रत्येक व्यक्ति अपने संप्रदाय-गच्छ को और अपने मान्य साधुओ को उच्च मानता है, श्रेष्ठ और चरित्रशील समझता है । दूसरे सभी उसकी दृष्टि मे शिथिल हैं । कितनी शोचनीय वात है ?

गेरुआ अथवा श्वेत वस्त्र पहनने से, त्रिशूल धारण कर लेने से, शरीर पर तिलक और छापे लगा लेने से अथवा नाना प्रकार के काय-क्लेशो

को अपना लेने से ही कोई साधु नही बन जाता। जब तक कोई अपने मन तथा इन्द्रियो पर नियत्रण नही कर लेता, राग, द्वेष, ईर्ष्या तथा मात्सर्य आदि आन्तरिक दुर्वृत्तियो पर विजय प्राप्त नही करता और जब तक ससार के समस्त प्राणियो के लिये उसके हृदय मे करुणा और प्रेम का निर्झर नही प्रवाहित होता तब तक उसमे साधना का प्रादुर्भाव नही होता। शास्त्रो मे भी कहा है—"लोए लिगप्पयोअण" बाह्य वेष से आत्मा का कल्याण नही होता। आत्मकल्याण के लिये तो आध्यात्मिक साधना ही कार्यकारिणी होती है। शास्त्रो मे बताया गया है —

> न वि मुण्डिएण समणो, न ओकारेण बम्भणो।
> न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥
>
> -- उत्तराध्ययन सू० अ० २५

अर्थात् केवल सिर मु डाने से कोई साधु नही बन जाता। 'ओ' रटने से कोई ब्राह्मण नही हो सकता ह, अटवी मे निवास कर लेने से ही कोई मुनि नही हो सकता है, और घास विशेष का वस्त्र पहनने से तपस्वी नही कहला सकता। किन्तु—

> समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।
> नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥
>
> —उत्तराध्ययन सू० अ० २५

अर्थात् समभाव से श्रमण-साधु, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है।

जैनधर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त विश्व के समस्त धर्मों, सम्प्रदायो, मतो तथा दर्शनो का यथोचित रूप मे समन्वय करता है। वह विश्व को यह शिक्षा देता है कि जगत् के सभी दर्शन किसी अपेक्षा से सत्य के ही अश है किन्तु जब एक अश दूसरे अश से न मिलकर उसका तिरस्कार करता है तो वह विकृत हो जाता है। ऐसी स्थिति मे वह दर्शन अपने अनुयायियो के लिये पत्थर की नौका बन जाता है, पार उतारने के लिये काष्ठ की नौका नही बन पाता। एक सरल उदाहरण से आप इस विषय को समझे।

एक गाव मे कुछ अन्धे रहते थे। सयोगवश उस गाव मे एक वार एक हाथी आ गया। लोगो के मुँह से हाथी का वर्णन सुनकर वे अन्धे हाथी को

देखने के लिये गए। उनमे से किसी ने उसका पैर पकडा, किसी ने सूड पकडी। किसी ने पूछ को हाथ लगाया और किसी ने पेट को टटोला। अपने-अपने हाथ मे आए हुए हाथी के एक-एक अवयव को ही वे पूरा हाथी समझने लगे। पैर टटोलने वाले ने हाथी को स्तम्भ के समान समझा, सूड पकडने वाले ने मूसल के समान समझा, कान पकडने वाले ने सूप के समान और पूछ पकडने वाले ने मोटे रस्से के समान मान लिया।

अन्धे अपने-अपने अनुभव के आधार पर हाथी के एक-एक अवयव को ही सम्पूर्ण हाथी समझते हुए जब आपस मे मिले और उनके अनुभव परस्पर विरोधी प्रकट हुए तो वे आपस मे विवाद करने लगे। सभी एक-दूसरे को झूठा बताने लगे। बस, ठीक यही हाल एकान्तवादी दर्शनो, धर्मों या मतो का है।

उक्त जन्मान्धो का कथन जिस प्रकार एक-एक अश मे सत्य अवश्य है किन्तु जब वे दूसरो को झूठा बताते हैं तो सभी झूठे बन जाते हैं। इसी प्रकार ससार के विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय सत्य व धर्म को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु ज्ञान की अपूर्णता के कारण वे वस्तु के एक अश को ही प्राप्त कर पाते हैं और धर्म तथा सत्य के एक अग को ही जब पूर्ण समझ लेते हैं तो आपस मे विवाद करने लगते है और झगडे खडे कर लेते हैं।

धर्म के क्षेत्र मे आग्रह न करके दर्शन सभी अपने-अपने सिद्धान्तो को हाथी के अवयवो को इकट्ठा करने के समान एक कर लें तो वास्तव मे वह वस्तु का पूर्ण रूप हो जाएगा और वस्तु का सच्चा स्वरूप सभी के सामने आ जाएगा। किन्तु एक-दूसरे को झूठा बताने पर अन्धो के समान सभी मतवादी झूठे साबित होते है। इसलिये प्रत्येक पन्थवादी को उदारतापूर्वक अपने मत की तरह अन्य मतो को भी सत्य का एक-एक अश मानना चाहिये। तभी धर्म बिखरा हुआ होकर भी विद्यमान रहेगा और वह गलत साबित नही होगा।

आज मनुष्य व्यर्थ के विवादो मे पडकर अपनी श्रद्धा और विश्वास को विकृत बना रहे हैं। कितनी शोचनीय बात है ? कोई मनुष्य गगा मे अपनी नाव चलाये या यमुना मे, आखिर तो दोनो समुद्र मे ही जाएँगे। फिर भी कोई कहे कि गगा मे जाने से ही समुद्र मे जाया जा सकेगा, यमुना मे जाने से नही, तो क्या यह ठीक माना जा सकेगा ?

सत्य तो यह है कि चाहे जिस मार्ग से क्यो न जाया जाये पर सम्यक्त्व

चरित्र-रूपी नाव दृढ अथवा दूसरे शब्दो मे अभेद्य होनी चाहिये । वह अपने ध्येय पर पहुँच जाएगा । अत यह विचार करना कि हम जिस मार्ग मे जा रहे है वही मार्ग सच्चा और अच्छा है, दूसरा नही, नितान्त भ्रामक है ।

महानुभावो ! आप समझ गए होगे कि ऐसे व्यर्थ के मतभेद और विवाद ही विकथाओ का रूप ले लेते है और मनुष्यो के मन कषायो से परिपूर्ण होकर अस्थिर हो जाते है । ऐसे मन को लेकर चिंतन-मनन होना कठिन ही नही वरन् असम्भव होता है । अत इनमे बचने का ही सर्वदा प्रयत्न करना चाहिये ।

विकथा का चौथा भेद है राजकथा । वर्तमान समय मे इस देश मे भिन्न भिन्न राजा और उस प्रकार के राज्य रहे नही । प्राचीन काल मे भारत अनेक राज्यो मे बंटा हुआ था । प्रत्येक राज्य का एक राजा होता था और उसकी शान-शौकत, अन्याय अथवा न्यायपूर्ण स्वभाव, उसकी सेना और सरदार आदि आदि सभी कुछ चर्चा के विषय बने रहते थे ।

योग्य राजा के राज्य की जनता उसके गुणगान किया करती थी और अयोग्य राजा की प्रजा दुखी होकर राजा की बुराइयाँ करती थी । कुछ भी हो राजा व राज्य का बहुत महत्त्व था और प्रजा के लिये राज-चर्चा करना स्वाभाविक भी था, क्योकि दयालु तथा योग्य राजा के राज्य मे ही प्रजा सुखी और सतुष्ट रह सकती थी । रामायण मे कहा है —

राजा सत्य च धर्मश्च राजा कुलवता कुलम् ।
राजा माता-पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥

अर्थात् राजा सत्य है, राजा धर्म है, राजा कुलीन पुरुषो का कुल है, राजा ही माता पिता है, तथा राजा समस्त मानवो का हित-साधन करने वाला है ।

और इसके विपरीत दुष्ट राजाओ के विषय मे तुलसीदास जी ने कहा:—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी,
सो नृप अवसि नरक-अधिकारी ।

अर्थात् जिस राजा के राज्य मे प्रजा दु खी रहती है, वह राजा निश्चय ही नरकगामी होता है ।

तात्पर्य यह है कि राज्य सबधी चर्चाएँ सदा से होती चली आती है और मनुष्यों का बहुत सारा समय इनकी चर्चा करने मे जाता रहा है। किन्तु मनुष्य को विचार यह करना चाहिये कि चर्चाएँ चाहे किसी भी प्रकार की हो,स्त्री-सबधी, भोजन सबधी, देश सबधी अथवा राज्य सबधी, उनके कारण बहुत सा अमूल्य समय व्यर्थ जाता है । और उन निरर्थक वार्ताओ से आत्मा को कुछ भी लाभ हासिल नही होता । राजा बुरा हो अथवा अच्छा, वह आत्मा की कोई अच्छाई अथवा बुराई नही कर सकता । इसी प्रकार उससे सबधित व्यर्थ वार्तालाप करते रहने पर भी समय का सदुपयोग नही हो सकता और साधना मे विघ्न पडता है ।

राजकथा सबधी विषयो को भी चार भेदो मे समझाया गया है । (१) अतियान कथा (२) निर्याण कथा (३) बलवाहन कथा और (४) कोप-कोष्ठागार कथा ।

अतियान कथा का विषय होता है राजा का नगर मे प्रवेश करना । कोई भी राजा किसी भी कार्यवशात् नगर से बाहर अल्प अथवा अधिक समय के लिये बाहर जाता है तो उसके लौटने पर नगर निवासी तथा राज्य कर्मचारी किस प्रकार महान् समारोह के साथ उसके स्वागत की तैयारियाँ करते है । जब राजा किसी युद्ध से विजय प्राप्त करके लौटता है तो जनता प्रसन्नता से पागल होकर जयनाद करती हुई उसे नगर मे लाती है और मगल वाद्यो के साथ धूम-धाम से राजभवन की ओर ले जाती है, इस प्रकार की कथा अतियान कथा कहलाती है ।

भरत चक्रवर्ती ने साठ हजार वर्ष तक देश-साधना की, और उसके बाद वे जब लौटे तो ज्योतिषियो ने बताया कि नगरप्रवेश का मुहूर्त चालीस वर्ष बाद आएगा । यह कोई असभव बात नही है, क्योकि भरत की तो आयु ही 'चौरासी लाख पूर्व' की थी । तो उनके नगर मे प्रवेश करने से पूर्व कितनी साज-सज्जा तथा तैयारियाँ की गई होगी। इसप्रकार का वर्णन अतियान कथा का विषय है ।

दूसरी कथा कहलाती है ,निर्याण-कथा' । इसमे राजा के नगर से बाहर जाने की चर्चाओ का समावेश होता है । विभिन्न त्योहारो पर, वसन्त ऋतु मे मनोरजनार्थ अथवा अन्य देश पर आक्रमण करने के हेतु जब राजा नगर से बाहर जाया करते थे तब भी अनेक प्रकार के समारोह होते थे । उनकी चर्चा-वार्ता निर्याण कथा है ।

तीसरा भेद राजा की शक्ति से सबधित है । अमुक राजा इतना शक्ति-शाली है, उसके पास इतनी सेना, इतने हाथी-घोडे आदि है, इत्यादि वर्णन बल-वाहनराजकथा है ।

चौथा विषय है—कोष-कोष्ठागार सबधी । धन-धान्य से परिपूर्ण कोठे तथा द्रव्य से परिपूर्ण खजाने राज्य की शोभा होते है । इसके बिना राज्य नही कहला सकता । प्रतापी तथा पुण्यवान राजा के राज्य मे कोई भी अभाव नही होता । इसी से उसके शासन को राम-राज्य कहते है । 'मानस' मे कहा गया है:—

दैविक दैहिक भौतिक तापा,
रामराज्य काहुहि नही व्यापा ॥

वास्तव मे जहाँ राम-राज्य होता है वहाँ प्रजा को कोई तकलीफ और किसी भी प्रकार का कष्ट नही होता । प्रजा ऐसे राज का गुणगान करती है और उसके लिये मगलकामना करती है । मगर देश-देश के राजाओ के कोष और कोठार की निरर्थक चर्चा मे समय नष्ट करने से साधक का कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता ।

राज्य के वास्तविक कल्याण के विषय मे सुझाव देना, उसके दोषो की आलोचना सद्भावनापूर्वक करना अलग बात है किन्तु राग-द्वेषवर्धक व्यर्थ चर्चा करना दूसरी बात है । इस विकथा मे राजाओ सबधी ऐसी चर्चा का ही निषेध किया गया है ।

वैसे भी गृहस्थ को अपनी जीविका के उपार्जन सबधी कार्यों के कारण आत्मोन्नति के लिये समय अत्यन्त कम मिल पाता है, किन्तु जो कुछ भी समय वे किसी तरह निकालते है उसको भी पूर्ण रूप से आध्यात्मिक क्रियाओ मे इन विकथाओ के कारण नही लगा पाते ।

परिणाम यह होता है कि यह अनमोल मानव जीवन व्यर्थ की विकथाओ मे, वाद विवादो मे और छिद्रान्वेषणो मे ही व्यतीत हो जाता है और जीवन के अन्त मे जब कि समय नही बचता तब पश्चात्ताप करना पडता है । इसीलिये एक पाश्चात्य विद्वान् कहते है —

"Do not squandea time, for that is the stuff is made of"

— फ्रैंकलिन

वास्तव मे ही जीवन का एक एक क्षण अमूल्य है और इनको एक-एक करके व्यर्थ खोते जाना जीवन रूपी रत्न-मजूषा मे से एक-एक अनमोल रत्न फैकते जाने के समान है। इसलिये बधुओ ! इनका मूल्य समझो और एक क्षण भी बर्बाद मत करो ! एक पल भी व्यर्थ मत खोओ !!

❁

[७]

दृढ़ मनोबल

आज हम स्थानाग सूत्र की एक चौभगी के विषय मे विचार करने और उस पर किंचित् विवेचन करने जा रहे है। इस चौभगी मे दो शब्द मुख्य है— प्रथम 'कृश' और द्वितीय 'दृढ'। इन दोनो शब्दो के आधार पर ही चौभगी का निर्माण किया गया है।

इसमे बताया गया है कि किसी व्यक्ति का शरीर भले ही कृश हो किन्तु उसका मनोबल अगर दृढ हो तो वह कर्मरिपुओ को परास्त कर सकता है और साधना की सर्वोच्च श्रेणी को पार करता हुआ अक्षय सुख का अधिकारी बन सकता है। किन्तु इसके विपरीत अगर व्यक्ति का मनोवल दृढ न हुआ तो शरीर सशक्त व दृढ होने पर भी उसको कर्म-शत्रु परास्त कर सकते हैं और अपने समक्ष नतमस्तक करके उसे निस्तेज बना देते है। परिणामस्वरूप जीव को जन्म-जन्मान्तरो तक अनेकानेक दुखो का, कष्टो का तथा सकटो का सामना करना पडता है और यह मानव-पर्याय निष्फल चला जाने के कारण फिर भव-भ्रमण समाप्त होना कठिन हो जाता है।

आत्मा की दृढता शरीर की दृढता पर निर्भर नही होती। वह चाहे कृश शरीर मे हो अथवा दृढ शरीर मे, उसका क्षयोपशम जितना तीव्र होगा वह उतना ही अधिक ज्ञान दर्शन प्राप्त कर सकेगा। ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति का, शरीर नही वरन् पूर्ण रूप से क्षयोपशम ही कारण होता है।

आत्मा की पवित्रता के लिये शरीर की दृढता अथवा सौन्दर्य कोई मूल्य नही रखता। शरीर का वास्तविक मूल्य साधना से निर्धारित होता है। जो शरीर आत्मा की साधना मे सहायक बनता है वही मूल्यवान कहलाने का अधिकारी है। इसके विपरीत, जो शरीर आत्मा को नरक के द्वार पर पहुँचा देता है और भव-भ्रमण को बढा देता है वह कितना भी रूप-सम्पन्न क्यो न हो, उसका कोई मूल्य नही है। अतः उसके लिये मनुष्य का अहकार करना सर्वथा वृथा है। कहा भी है.—

"है बाहर का रूप मनोरम, सुन्दरता साकार,
बहिर्दृष्टि मोहित होते हैं, विनय विवेक विसार।
इसी से बढता है ससार, मानव अहकार बेकार।

भावार्थ है कि शरीर कितना भी मनमोहक व सुघड हो पर उसके वशीभूत होकर अगर मानव विनय, विवेक आदि गुणो को भूल कर पर-पदार्थों में आसक्त रहता है तो उससे ससार बढता ही है, घटता नही। और इसलिये ऐसा शरीर आत्मा के लिये शत्रु ही साबित होता है, मित्र नही। दूसरे शब्दो मे अहित-कारी बनता है, हितकारी नही।

आत्मा का शुद्ध स्वरूप तो मनुष्य को ही नही वरन् कीट-पतगो को, यहाँ तक कि निगोद मे रहने वाले जीवो को भी प्राप्त है, परन्तु उस शुद्ध स्वभाव पर आवरण आए हुए है। उन आवरणो की विकृतियाँ तथा मलीनताएँ दूर नही होती। दूसरे शब्दो मे उन मलीनताओ को अथवा विकृतियो को ही हम आत्मा पर छा जाने वाले आवरण कह सकते हैं।

आत्मा मे आई हुई विकृतियाँ अनादि होने पर भी सान्त हैं। अर्थात् उनका अन्त किया जा सकता है और इसलिये आत्मा को दृढता की आवश्यकता होती है। आत्मा मे जो भी कषाय, वासनाएँ अथवा विकृतियाँ हैं वे उसका स्वाभाविक रूप नही हैं और इसलिये उनका आत्मा से सबध अनादि होने पर भी अनन्त नही है। इनका अन्त हो सकता है और अन्त करने मे जो आत्मा समर्थ होती है वही दृढ कहलाती है। इस दृढता को समझाने के लिये ही स्थानाग के चौथे स्थानक मे यह सूत्र वर्णित है —

"चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तजहा—
(१) किसे नामेगे किसे (२) किसे नामेगे दढे (३) दढे नामेगे किसे (४) दढे नामेगे दढे।"

इस चौभगी मे बताया गया है—

(१) कोई पुरुष ऐसा होता है जो पहले भी शरीर से कृश होता है और उसके बाद मे भी कृश (दुर्बल) ही रहता है। इसके अलावा ऐसा मनुष्य भी इस श्रेणी मे आता है जो शरीर से तो कृश होता ही है किन्तु आत्मिक शक्ति से भी कृश (हीन) ही बना रहता है। तात्पर्य यह है कि शरीर से भी दुर्बल तथा साधना की शक्ति से भी जो दुर्बल होता है वह व्यक्ति इस भग मे गिना जाता है।

शरीर तथा मन की कृशता के विषय मे यह जानना चाहिए कि शरीर की दुर्बलता अनेक ऐसी परिस्थितियो के कारण होती है जिन पर मनुष्य का वश नही होता। किन्तु मन की दुर्बलता को निकाल देना मनुष्य की दृढ इच्छा-शक्ति पर अवलबित है। स्वय को अशक्त समझना हीनता का द्योतक है और हीनता असफलता का कारण है। कहते भी है—"मन के जीते जीत है, मन के हारे हार।"

हिम्मत हार जाना असफलता की निशानी है। निराश तथा साहसहीन व्यक्ति न तो शरीर सबधी और न ही आत्मा सबधी, किसी भी क्षेत्र मे प्रगति कर सकता है। वह कभी भी अपने इच्छित कार्य मे सफलता प्राप्त नही कर सकता। कहा गया है—

"मन के लगडे को असख्य देवता भी मिलकर नही उठा सकते।"

(२) चौभगी का दूसरा भग है—'किसी नामेगे दढे'। अर्थात् जो व्यक्ति शरीर से महादुर्बल होते हुए भी आत्मिक शक्ति से प्रबल होता है, उसका नाम इस सूत्र के साथ जोडा जा सकता है।

हम देखते है कि अनेक व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से अत्यन्त कमजोर होते हुए भी मनोबल की दृष्टि से बडे दृढ होते है। महात्मा गाधी जी मे शारीरिक शक्ति कितनी थी ? हड्डियाँ, पसलियाँ गिनी जा सके, इतने वे कृश थे। किन्तु उनकी आत्मिक शक्ति इतनी दृढ थी कि जिसने भारत का नक्शा ही बदल दिया और सारे ससार के अन्य देशो को दातो तले अगुली दबानी पडी।

ज्ञाता सूत्र मे अरणक-अर्हन्नक श्रावक का वर्णन आता है, जिन्होने शरीर की ममता छोड दी किन्तु धर्म नही छोडा। बताया गया है कि एक बार देव-राज इन्द्र ने कौतूहलवश अपने अवधिज्ञान द्वारा देखा कि दक्षिण भारत मे समुद्र के मध्य मे अरणक श्रावक के जहाज जा रहे थे और जहाज के ऊपरी हिस्से मे अरणक ध्यान मे लीन थे।

उनकी इस दृढता पर इन्द्र ने अपनी देवसभा मे सिंहासन पर बैठे-बैठे ही उन्हे हाथ जोडकर नमस्कार किया।

यह देखकर एक देव को ईर्ष्या हुई और उसने इन्द्र द्वारा सम्मानित अरणक श्रावक की परीक्षा लेने की ठान ली। बात-बात मे वह मध्य लोक मे आ पहुँचा और उनपर अपनी शक्ति का प्रयोग करना आरम्भ किया।

प्रथम तो देवता ने अपना रूप बडा ही विकराल वनाया और मुँह से मानो ज्वालाएँ निकालते हुए जहाज पर आक्रमण किया। सारे जहाज के व्यक्ति भय से थरथरा गए किन्तु धन्य है अरणक श्रावक को, जिन्होने कि उसे एक उपसर्ग मानकर अपनी ध्यानावस्था को दृढ कर लिया। मरणभय से भी वे विचलित नही हुए।

अत मे देव ने उनसे यह आग्रह किया कि वे सिर्फ धर्म को छोड दें, और छोडे भी नही तो सिर्फ जिह्वा मात्र से ही यह उच्चारण कर दें कि वे धर्म छोडते हैं।

किन्तु अरणक ने कच्ची गोलियाँ नही खेली थी। किसी भी भाँति वे डिगे नही। देव ने उनके जहाज को पानी मे वहुत ऊपर उठा लिया और उसे सागर के तल मे डुबा देने की धमकी दी। सारे जहाज के व्यक्ति एक स्वर मे चीख उठे कि हम सवने धर्म को छोड दिया है। किन्तु वाह रे अरणक! वे तो अपने धर्म पर दृढ ही रहे।

निराश होकर देव को अपने असली रूप मे आना पडा और उस रूप मे आकर उसने अरणक से क्षमा मागी और उपहार के रूप मे कुण्डल-युगल देकर अपने स्थान को रवाना हुआ।

कितना जबर्दस्त मनोबल उनमे था। ऐसे ही मनोबल के अधिकारी हरिकेशी मुनि भी थे। एक तो वे कुरूप थे दूसरे घोर तपश्चर्या के कारण उनका शरीर और भी सूख गया था। किन्तु तपश्चर्या के महान प्रभाव के कारण एक यक्ष उनका दास वन गया था।

एक बार वे किसी यज्ञशाला की ओर भिक्षार्थ जा रहे थे। किन्तु उनके तप से शुष्क हुए शरीर को तथा जीर्ण उपकरणो को देखकर यज्ञ के कर्त्ता ब्राह्मणो ने उनका उपहास करना आरम्भ कर दिया। और तिरस्कारपूर्वक कहा—

कयरे तुम इय अदसणिज्जे,
काए व आसा इहमागओ सि।

ओमचेलया पसुपिसायभूया,
गच्छक्खलाहि किमिहं ठिओ सि॥

—उत्तराध्ययन १२-७

अर्थात् अरे ! जीर्ण वस्त्रवाले पिशाच सदृश अदर्शनीय ! तू कौन है ? क्यो आया है ? क्यो खडा है, यहाँ से निकल जा ।

इस तिरस्कार मे भी मुनि के हृदय मे तनिक भी दुर्भावना नही उत्पन्न हुई किन्तु उनके भक्त यक्ष से रहा नही गया और जब उसने देखा कि कुछ ब्राह्मण कुमार मुनि हरिकेशी पर बेतो तथा चाबुको से प्रहार कर रहे है तो उसकी सहनशक्ति सीमा पार कर गई । यक्ष ने मुनि हरिकेशी के शरीर मे प्रवेश कर ब्राह्मण-कुमारो को मारना शुरू किया । अनेको के मुख से रक्त-वमन होने लगा और उनकी हालत अति भयानक हो गई ।

यह देखकर यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण-देवता ने मुनि से क्षमा-याचना की और आहार ग्रहण करने की प्रार्थना भी की । उसी समय मुनि हरिकेशी ने अपने मास-खमण के पारणा के लिये आहार-पानी ग्रहण किया और उन्हे कहा—मेरे मन मे न तो पहले द्वेष था और न अब है, न ही आगे कभी होगा । किन्तु तिंदुक वृक्ष पर रहनेवाला यक्ष मेरी सेवा करता है और उसने ही इन कुमारो को मारा है ।

मुनि के, ठीक भिक्षा ग्रहण करते समय देवो ने वहाँ सुगधित जल तथा पुष्पो की वर्षा की और दुँदुभियाँ बजाईं ।

सज्जनो ! अगर हरिकेशी मुनि अपने शरीर की तरह ही अपनी साधना तथा तप मे भी कृश होते तो क्या वे देवताओ द्वारा पूजनीय बन सकते थे ? कभी नही । ऐसे उदाहरणो से साबित हो जाता है कि शरीर की कृशता होने पर भी अगर आत्मिक शक्ति मनुष्य की दृढ होती है तो वह मोक्ष का अधिकारी बन सकता है ।

शारीरिक साधना से मानसिक साधना अनेक गुनी महत्त्वपूर्ण होती है। क्योकि शरीर के व्यापार के बिना ही केवल मन की प्रवृत्ति से ही जीव आधे क्षण मे ही मोक्ष पहुँच सकता है । कहा भी है—

मनोयोगो बलीयांश्च, भाषितो भगवन्मते ।
य सप्तमीं क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च ।।

वीतराग के मत मे मनोयोग इतना बलशाली बताया गया है कि वह आधे क्षण मे सातवें नरक मे, तथा आधे क्षण मे ही मोक्ष मे पहुँचा देता है ।

(३) तीसरा भग है—दढे नामेगे किसे ।

अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो कि शरीर से तो दृढ होता है किन्तु आत्मिक शक्ति से हीन होता है। भावना से वह अत्यन्त ही दुर्बल होता है। ऐसे व्यक्तियो की श्रेणी मे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का नाम उल्लेखनीय है। ब्रह्मदत्त अतुल रूप तथा समृद्धि के अधिकारी थे किन्तु उनकी आत्मिक शक्ति साधनापथ पर कदम रखने मे अशक्त थी। आत्मिक शक्ति से वे हीन थे। पिछले पाँच भावो मे रहे हुए ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के भाई चित्तमुनि ने ब्रह्मदत्त को समझाने के अनेक प्रयत्न किये। उन्हे भोगो से विरत करने के लिये नाना प्रकार के तर्क दिये। किन्तु चक्रवर्ती की कमजोर आत्मा दृढ नही बन सकी। उन्होने चित्तमुनि के समस्त प्रयत्नो को निष्फल करते हुए उत्तर दिया —

अह वि जाणामि जहेह साहू,
जं मे तुम साहसि वक्कमेय।
भोगा इमे सगकरा हवंति,
जे दुज्जया अज्जो अम्हारिसेहिं॥

—उत्तराध्ययन, १३-२७

अर्थात् महाराज! आप जो कहते हैं वह मैं समझता हूँ किन्तु ये भोग वन्धनकर्त्ता हो रहे है जो हमारे जैसो के लिये दुर्जय है।

इतने पर भी चित्तमुनि ने अपना अतिम प्रयास और किया तथा राजा से कहा—"राजन्! यदि तुम भोगो का त्याग करने मे अशक्त हो तो कम-से-कम धर्म मे स्थिर होकर, प्राणियो पर अनुकम्पा रखो और आर्य कर्म करो।" पर इसका भी परिणाम कुछ नही निकला। राजा ब्रह्मदत्त काम-भोगो मे आसक्त रहा और सातवें नरक मे उत्पन्न हुआ।

बधुओ! ससार मे प्रलोभन की वस्तुएँ चारो ओर बिखरी हुई हैं। और उनके लिये मनुष्य नाना प्रकार की विडम्बनाए भोगते हुए देखे जाते हैं। कुछ व्यक्ति धन के लिये अनेक प्रकार के कष्ट सहन करते हैं, कुछ स्वजन-ममता के वशीभूत होकर परिवार मे आसक्त रहते हैं और कुछ यशकीर्ति के लिये आकाश-पाताल एक कर डालते हैं। विषय-भोगो के प्रलोभन ने समस्त ससार के प्राणियो को अपने चगुल मे फँसा रखा है और यह प्रलोभन इतना प्रबल है कि अज्ञानियो और मूर्खों की तो बात ही क्या है, बडे-बडे विद्वान् भी इससे बच नही सके हैं।

तात्पर्य यही कि कुछ विरले व्यक्तियो को छोड़कर संसार के समस्त

प्राणी विषय-विकारो का शिकार बने रहते हैं । किसी ने ठीक ही कहा है—

> भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकबारं,
> शय्या च भू परिजनो निजदेहमात्रम् ।
> वस्त्रं च जीर्णशतखण्डमयी च कन्था,
> हा हा ! तथापि विषयान्न परित्यजति ।।

अर्थात् जो भिक्षा माँगकर सिर्फ रूखा-सूखा, दिन भर मे एक बार खाते हैं, पृथ्वी ही जिनकी शैय्या है, परिवार के नाम पर सिर्फ अकेली उनकी देह होती है, फटे-पुराने सैकडो चिथडो को जोड २ कर बनाई गई गुदडी ही जिनका वस्त्र है, महाखेद है कि ऐसे पुरुष भी विषय-भोगो का त्याग नही कर पाते ।

यह सब क्यो ? इसलिये कि उनकी आत्मिक शक्ति मद होती है । शरीर हृष्टपुष्ट होने पर भी मन अत्यत निर्बल होता है । ऐसे व्यक्ति मन के दास बने रहते है । आध्यात्मिक साधना करने वालो को तो सतत अभ्यास के द्वारा मन पर विजय प्राप्त करते हुए मन की शक्ति को दृढ बनाना चाहिये ।

मुस्लिम समाज मे यद्यपि हज अर्थात् मक्का, मदीने की यात्रा को बडा ही महत्त्व दिया गया है किन्तु 'शेखसादी' ने कहा है —

> दिल बदस्त आवर कि हज्जे अकबर अस्त ।
> अज हजार काबा यक दिल बेहतर अस्त ।।

अर्थात्—प्राणी ! तू अपने चित्त को वश मे कर । क्योकि यही एक महान् हज है । अपने चित्त को वश मे करना तो हजार हजो से भी बेहतर है ।

आप समझ गए होगे कि जो मनुष्य शरीर से बलशाली होते हुए भी भावना से हीन होता है, इन्द्रियो का दास बन जाता है वह तीसरे भग के उदाहरण मे आता है ।

(४) चौथा व अन्तिम भंग है—दढे नामेगे दढे । इसका तात्पर्य है—जो व्यक्ति शरीर से भी दृढ हो तथा भावना से भी दृढ हो । इसके अकाट्य प्रमाण है तीर्थंकर । तीर्थंकरो मे शारीरिक बल अतुल होता है और उनका आत्मिक बल तो असाधारण होता ही है । राग, द्वेष, विषय-विकार तथा ससार के समस्त भोगो से जो अपने मन को विरत कर लेता है, उसके आत्मिक बल की तुलना कैसे की जा सकती है ?

शारीरिक वल कितना भी क्यो न हो, पर उसके साथ मनोवल अत्यन्त उच्च होना चाहिये। मनुष्य को ससार-भ्रमण से विमुक्ति दिलाने वाला मनोवल ही होता है। मन की न्यूनतम दुर्बलता भी सहस्रश अशुभ फलो को उत्पन्न कर देती है। अशुभ भावना से अनन्तानन्त अशुभ कर्म-परमाणुओ का तथा शुभ भावना से शुभ परमाणुओ का वंध होता है और इन भावनाओ की उत्पत्ति का मुख्य कारण हमारा मन ही है।

मन की अशुभ भावनाओ को शुभ रूप मे परिणत करने के लिये मन को साधने का प्रयत्न करना अनिवार्य है। साधना के जो भी अग है व्रत, उपवास, तपश्चर्या, यम, नियम आदि, उन सवका उद्देश्य मन का निग्रह करके शक्तिशाली वनाना ही है। इसीलिये भगवद्गीता मे कहा गया है —

चचलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि वलवद् दृढम्।
तस्याह निग्रह मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं—यह मन तो वडा ही चचल, वलवान् एव दृढ है। मुझे तो ऐसा लगता है कि इसको वश मे करना वायु को वश मे करने के समान वहुत दुष्कर है।

इसके उत्तर मे कृष्ण कहते है—हे महावाहो! निस्सदेह मन चचल है और वडी कठिनता से वश मे आने वाला है। किन्तु अभ्यास और वैराग्य से यह वश मे हो जाता है।

जैनदर्शन मे भी मनोनिग्रह के वडे सुन्दर उपाय वताए गए हैं —

स्वाध्याययोगैश्चरण-क्रियासु—
व्यापारणैर्द्वादश भावनाभि।
सुधीस्त्रियोगी सदसत्प्रवृत्ति—
फलोपयोगैश्च मनो निरुन्ध्यात्॥

अर्थात् मन को स्वाध्याय योग मे लगाकर, शुभ क्रियाओ मे सलग्न करके, अनित्यता, अशरणता आदि वारह भावनाओ मे रमाकर और शुभ तथा अशुभ कर्मों के फल के चिंतन मे लगाकर बुद्धिमान् मन का निरोध करने का यत्न करे।

यह सही है कि मन पर नियन्त्रण एकदम नहीं हो सकता। समय-समय पर यह विचलित होता रहता है। किन्तु जब यह आत्मा से वाहर विषय-

भोगो की ओर उन्मुख हो जाए उसे अविलम्ब लौटा लेने का प्रयत्न करना चाहिये । जैसा कि कहा है—

मन मनसा को मारकर, घट ही मांहि फेर ।
जब ही चाले पीठ दे, आकस दे दे फेर ।।

मनुष्य को यह कभी नही भूलना चाहिये कि मन चाहे कितना भी धृष्ट व उद्दण्ड क्यो न हो, वह आत्मा का स्वामी नही है, आत्मा ही उसका स्वामी है । और आत्मप्रदत्त शक्ति को पाकर ही वह बलवान् बना है । तो आत्मा उस मन को अपने अधीन भी कर सकता है। इसको समझते हुए जो व्यक्ति साधना करेगा वह निश्चय ही मोक्ष का भागी हो सकेगा । यह सही है 'मन एव मनुष्याणा कारण बंधमोक्षयो' ।

बधुओ ! आज की इस चौभगी का सार आपने ग्रहण कर लिया होगा । सक्षेप मे इसका आशय यही है कि यह सर्वोत्तम होगा अगर मनुष्य को मानसिक शक्ति के साथ-साथ शारीरिक शक्ति भी प्रचुरता पूर्वक प्राप्त हो । शारीरिक बल का महत्त्व भी कम नही है, यह भी साधना मे बडा सहायक साबित होता है । किसी दार्शनिक ने तो यहाँ तक कहा है—

"Strength is life and weakness is death."

शक्ति ही जीवन है और निर्बलता मृत्यु ।

मेरी दृष्टि से भी शारीरिक दृढता मनोबल को बढाती है । मनोबल अगर सुवर्ण है तो शारीरिक बल उसमे सुगध । इन दोनो का स्वामी ससार मे क्या नही कर सकता ? शारीरिक दृढता मनुष्य के ऐहिक जीवन को निर्भय बनाती है और मानसिक दृढता पारलौकिक जीवन के प्रति निर्भय । आवश्यकता यही है कि मनुष्य दृढता के साथ-ही-साथ निर्भयतापूर्वक अपनी आध्यात्मिक साधना पर बढता जाए । विघ्न-बाधाओ से भयभीत हो जाना मनुष्य के पतन का चिह्न है । कहा भी है— 'Fear is the root of sin" भय पापो का मूल है ।

साधक अपने मानव-जीवन को तभी सार्थक बना सकता है जबकि उसकी दृढता फौलाद की तरह मजबूत हो । दूसरे, शारीरिक दृढता तो जैसा कि मैंने पूर्व मे कहा है, बहुत कुछ प्रकृति-प्रदत्त होती है किन्तु आत्मिक शक्ति को दृढ बनाना मनुष्य की अपनी इच्छा-शक्ति पर ही निर्भर होता है । यह शक्ति बाहर से प्राप्त नही की जाती किन्तु मनुष्य की अपनी आत्मा ही इसका

निर्माण करती है। यहाँ अगर मानव हिम्मत हार जाए तो ससार की कोई भी शक्ति उसे ऊचा नही उठा सकती और उसकी अक्षय सुख की कामना जन्म-जन्मान्तरो के चक्कर मे पडकर विलीन हो जाती है।

इस बहुमूल्य मानवजीवन को प्राप्त करके भी अगर आत्मकल्याण की साधना न की जाए तो यही समझना चाहिये कि जिन पुण्य-कर्मों से यह मानवशरीर प्राप्त हुआ वह पूजी तो निरर्थक हो ही गई और इसके साथ ही विषय-भोगो को भोगकर जो कर्म-बधन किये उनसे आगे के लिये और अधिक ऋणी हो गया।

इसलिये मनुष्य को निरतर आत्मबल बढाना चाहिये। इसके बढने से इन्द्रियो की प्रबलता घटती है और विषयासक्ति हटती है। तभी आत्मा का उत्थान हो सकता है।

हमारी आत्मा अनन्त ज्योति का पुज है तथा अनन्त शक्ति का सागर। फिर भी उस शक्ति की पहचान न होने के कारण, जन्म-जन्मान्तरो के बाद भी वह निस्तेज ही दृष्टिगत होता है। आत्मा का शुद्ध स्वभाव, उसकी उज्ज्वलता, कषायो की कालिमा से आच्छिन्न रहती है। परिणामस्वरूप आत्मा मे दुर्बलता तथा निष्क्रियता आ जाती है तथा जन्म-मरण बढते जाते है।

अगर दृढतापूर्वक सही मार्ग का अवलोकन कर उसपर चलने का प्रयत्न किया जाए, सम्यग्ज्ञान तथा दर्शनपूर्वक क्रियाएँ की जाएँ तो आत्मा निश्चय ही अपने मूलरूप मे आ सकती है और वह विकास करते-करते जब अन्तिम सीमा पर आ जाती है तब परमात्मा बन जाती है। ज्यो-ज्यो कर्म रूप उपाधि हलकी होती जाती है त्यो-त्यो आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तसुख की ओर बढती चली जाती है। यही आत्मा का परमात्मदशा प्राप्त करना है। भगवान् महावीर ने भी कहा है--

जह रागेण कडाणं,
कम्माण पावगो फलविवागो।
जह य परिहीणकम्मा,
सिद्धा सिद्धालयमुवेन्ति —औपपातिक सूत्र

अर्थात् यह ससारी जीव राग-द्वेष रूप विकारो के कारण उपार्जित कर्मो का दुष्फल भोगता है और जब समस्त कर्मों का क्षय कर डालता है तो सिद्ध होकर सिद्धिक्षेत्र को प्राप्त करता है।

वास्तव में ससार के विषय-भोग अग्नि के समान होते हैं। जब तक यह् विषयाग्नि अन्त करण मे धधकती रहती है, प्राणी को शाति नही मिल सकती। यह सर्वथा अशात तथा व्याकुल रहता है। और यही व्याकुलता महान् कर्मबन्ध का कारण बनती है। उन कर्मों के कारण जीव नाना योनियो मे भ्रमण करता रहता है। ईसाइयो के धर्मग्रथ इजील मे बडे सुन्दर ढग से इसी बात को समझाया गया है —

"Can a man take fire in his bosom and his cloths not be burned ? Can one go upon hot coals and his feet not be burnt ?"

अर्थात् क्या यह सभव है कि कोई मनुष्य अपने वक्षस्थल पर अग्नि धधका ले और उसके वस्त्र जलने से बच जाएँ ? और यह भी सभव है कि मनुष्य धधकते अगारो पर चले और उसके पैर जले नही ?

वास्तव मे ही विषय-भोगो की तृष्णा प्रज्वलित वह्नि के समान है और जब तक यह शात नही की जाएगी आत्मा शाति नही पा सकेगी। और इसे शात करने की क्षमता अगर किसी मे है तो वह अपनी ही आत्मा की दृढता मे। आत्मा की दुर्बलता, इस कषायाग्नि के लिये घृत के समान है और दृढता शीतल जल के समान। सक्षेप मे यही दृढता की महिमा तथा सच्चा परिचय है।

इस चौभगी के स्वरूप को समझकर आप अपनी आत्मा को, एव अपने मन को सबल और दृढ बनाने का उपक्रम करे और आज से ही इस प्रयास की नीव रक्खें।

●

ज्ञान-प्राप्ति के साधन

सज्जनो !

इस अद्भुत सृष्टि मे ज्ञान के समान पावन, बहुमूल्य तथा इच्छित फल की प्राप्ति करानेवाली अन्य कोई भी वस्तु नही है। ज्ञान की महिमा अनिर्वचनीय है। उसका पूरी तरह वर्णन कर सकना असम्भव है।

ज्ञान के द्वारा ही लौकिक तथा लोकोत्तर सभी प्रकार की निधियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। ज्ञान के द्वारा ही जीव को कर्तव्य तथा अकर्तव्य की पहचान होती है। ज्ञान के द्वारा ही अविवेक का नाश होता है और निर्मल चारित्र का पालन हो सकता है। ज्ञान के अभाव मे घोर तपस्या और कठिन से कठिन काय-क्लेश भी सम्यक् चारित्र नही कहला सकते। और वे नाना प्रकार के कायक्लेश भी मुक्ति के कारण न बनकर ससार बढने के साधन बन जाते हैं। कहा भी गया है—

अज्ञानी क्षपयेत् कर्म, यज्जन्मशत-कोटिभि ।
तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा, निहन्त्यन्तमुहूर्तके ।।

अर्थात्-अज्ञानी मनुष्य जिन कर्मों को नाना प्रकार के कष्ट सहन करके तथा शत-शत वर्षों तक तपश्चर्या करके भी कोटि-कोटि जन्मो मे खपा पाता है, ज्ञानी पुरुष उन्ही कर्मों को तीन गुप्तियो से युक्त होकर अर्थात् मन, वचन तथा काय के व्यापारो का निरोध करके अन्तर्मुहूर्त मे ही खपा डालता है।

ससार मे दो प्रकार के प्राणी दिखाई देते हैं—ज्ञानी तथा अज्ञानी। ज्ञानी वे हैं जिनकी दृष्टि, रुचि एव प्रतीति समीचीन है, जो विचार तथा विवेक से सम्पन्न होते हैं तथा अपने कल्याण का पथ खोजकर उसपर चलने का प्रयत्न करते है। इसके विपरीत अज्ञानी वे होते है, जिन्हे आत्मा-अनात्मा मे अन्तर नही जान पडता। पुण्य तथा पाप के फलो पर जो विश्वास नही करते। तथा अपनी आत्मा का भी शरीर के साथ ही नष्ट होना मानते हैं।

अध्यात्मशास्त्र मे ज्ञानी और अज्ञानी का निर्धारण पाण्डित्य अथवा अपाण्डित्य के आधार पर नही किया गया है। भले ही कोई व्यक्ति महा-विद्वान् हो, अनेक भाषाओ मे पारगत हो, विविध शास्त्रो का जानकार हो, मोटी-मोटी पुस्तकें भी कण्ठस्थ कर ली हो और प्रवचन अथवा तर्क करने मे कुशल हो, फिर भी अगर उसे आत्मा की शाश्वत शक्ति पर विश्वास न हो, तत्त्वो पर श्रद्धा न हो और उसके हृदय मे विवेक न हो तो वह ज्ञानी नही है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति विद्वान् न होने पर भी विवेकवान् है, वीतराग की वाणी पर जिसे श्रद्धा है वह ज्ञानी मनुष्यो की श्रेणी मे माना जाएगा।

ज्ञानी पुरुष अपने मन को तथा अपनी इन्द्रियो को अपने नियत्रण मे रखते है। अपने मन, वचन तथा काय के अनिष्ट व्यापारो को रोककर अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनाते है। वे अपने सत्सकल्प तथा अपने लक्ष्य से कदापि विचलित नही होते। किसी भी प्रकार का उपसर्ग और परीषह क्यो न आए, वे अपने विचारो का तथा पथ का परित्याग नहीं करते। उनका सम्यग्ज्ञान ही उनके उत्थान का कारण बनता है। इसी कारण ससार के सभी शास्त्र ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए कहते है—

ससारसागर घोर, तर्तुमिच्छति यो नर ।
ज्ञान-नाव समासाद्य, पार याति सुखेन स ।।

अर्थात् सुखपूर्वक मोक्ष प्राप्त करने का एक मात्र मार्ग ज्ञान ही है। जो भी मनुष्य इस घोर ससार-सागर को पार करना चाहते हैं उन्हे ज्ञान-रूपी नौका का सहारा लेना चाहिये।

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति जब हो जाती है तो आत्मा मे स्वय ही विवेक का प्रादुर्भाव होता है और वह विषय-भोगो से विरक्त हो जाता है। यह हो सकता है कि जीव विषयभोगो का सर्वथा त्याग न कर सके, फिर भी वह उन्हे भोगता हुआ भी उनमे लिप्त नही होता। उसका अन्त करण अनासक्त रहता है। वह ससार को कारागार समझता है और उसमे रहते हुए भी उस शुभ दिन की प्रतीक्षा मे रहता है जब कि उसकी अवधि पूरी हो। ससार के भोग-विलास उसे रुचिकर नही होते फिर भी वह यह समझता है कि जब तक कर्मों की स्थिति बनी हुई है, उसे विवशतापूर्वक इसमे रहना पडेगा।

ज्ञानी और अज्ञानी की बाह्य चेष्टाए एक सी दिखाई देती हैं, दोनो ही भोगो को भोगते हुए जान पडते है किन्तु उनमे अन्तर यही होता है कि

ज्ञानी उन्हे अनासक्त भाव से और अज्ञानी अत्यन्त आसक्त भाव से भोगते हैं। समस्त जीवन इस प्रकार व्यतीत करने के पश्चात् जब अन्तकाल आता है तब भी दोनो मे महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

विवेकहीन अज्ञानी व्यक्ति मृत्यु की घडी आने पर अत्यन्त दुखी होता है और सोचता है—मेरे प्रियजन मुझसे बिछुड रहे हैं। अत्यन्त कठिनाइयों से उपार्जन की हुई मेरी सम्पत्ति यही रह जाएगी। हाय ! मेरी अनेक अभिलाषाएँ अपूर्ण रह गई। अब आगे न जाने क्या होगा ?

इस प्रकार दुख, शोक, विकलता तथा पश्चात्ताप के कारण अज्ञानी का मरण होता है और ऐसे मरण के कारण उसके जन्म-मरण और अधिक बढ जाते है। इसके विपरीत ज्ञानी पुरुष मृत्यु को नैसर्गिक तथा साधारण क्रिया ही मानते हैं। और अपनी मृत्यु को शुभ तथा स्वय को बधनमुक्त होना मानते है। वे यह सोचते है।

कृमिजालशताकीर्णे, जर्जरे देहपञ्जरे।
भज्यमाने न भेतव्य, यतस्त्व ज्ञानविग्रह ॥

अर्थात् हे आत्मा ! तू तो ज्ञान रूपी दिव्य शरीर का स्वामी है। फिर तुझे इस सहस्रो कीटाणुओ से भरे हुए, जर्जरित देह रूपी पिंजरे के नष्ट होने पर क्यो शोक करना चाहिये ? इस ज्ञान रूपी शरीर का तो सैकडो मृत्युए भी कुछ नही बिगाड सकती।

इस प्रकार ज्ञानी तथा अज्ञानी के जीवन और मृत्यु मे महान् अन्तर होता है। इसलिये प्रत्येक प्राणी को चाहे वह श्रावक हो या श्राविका, साधु हो या साध्वी, ज्ञान प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध होना चाहिये। जैनधर्म मे गृहस्थो के लिये विधान है कि वे पूर्ण रूप से नही कर सकने पर भी यथाशक्ति अधिक-से-अधिक त्याग करें तथा समय समय पर सतो की जैसी वृत्ति का पालन करे। किन्तु साधु को तो सयम तथा सदाचार की जागती प्रतिमा बनना चाहिये। सत तो मानव-जीवन के परम पवित्र तथा उच्चतम उद्देश्य के लिये सतत प्रयत्न करने वाला साधक होता है। उसका जीवन तप और त्याग की उज्ज्वलता से परिपूर्ण होता है। उसे एक-एक कदम बडी सावधानी से सोच-विचारकर रखना होता है। प्रत्येक साधु को सासारिक भोग-विलासो के त्याग के साथ ही आन्तरिक दुर्गुणो का भी परित्याग करना होता है। एक फारसी कवि ने कहा है—

जाहिर अज आमाले नेको पाक कुन ।
बातन अज हक्कुल यकी बेबाक कुन ॥

अर्थात् प्राणी ! तू अपने बाह्य स्वरूप को शुभ कर्मों द्वारा पवित्र कर और आन्तरिक भावो का दृढ श्रद्धा से उत्थान कर ।

मुनि वृत्ति बडी दुष्कर होती है किन्तु जो उसका पालन करते है वे ही मुक्ति के माधुर्य को पा सकते है । मुनि की प्रत्येक क्रिया सम्यग् ज्ञानमय होनी चाहिये ।

ज्ञान की प्राप्ति के लिये ज्ञानावरणीय कर्मो का क्षयोपशम होना आवश्यक है । वह क्षयोपशम दो प्रकार से हो सकता है । प्रथम तो जिन कारणो से ज्ञानावरण का बध होता है उनसे दूर रहा जाय । दूसरे जिन बाह्य कारणो से ज्ञान प्राप्ति मे बाधा पडती है उन्हे अमल मे न लाया जाए । ज्ञानप्राप्ति के कारणो के विपय मे स्थानाग सूत्र मे सरलतापूर्वक समझाया गया है । सूत्र इस प्रकार है—

'चउहि ठाणेहिं निग्गथाण वा निग्गथीण वा अतिसेसे णाणदसणे समुप्पजिउकामे समुप्पज्जेज्जा, तजहा—(१) इत्थिकह भत्ताकह देसकह रायकह नो कहेत्ता भवति (२) विवेगेण विउस्सग्गेण सम्पमप्पाण भावेत्ता भवति (३) पुव्वरत्तावरत्ताकालसमयसि धम्मजागरिय जागरतिता भवति (४) फासुस्स एसणिज्जस्स उछस्स सामुदाणियस्स सम्म गवेसिया भवति; इच्चेतेहिं चउहिं ठाणेहि निग्गथाण वा निग्गथीण वा जाव समुपज्जेज्जा ।'

यहाँ सूत्रकार ने ज्ञान-प्राप्ति के चार साधन बतलाए हैं, जिनकी विद्यमानता मे सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति होती है । इन चार कारणो से अतिशय-ज्ञान प्राप्त हो सकता है ।

(१) जो साधु सयम अगीकार करने के पश्चात् अपना समय चिन्तन, मनन, ध्यान तथा स्वाध्याय आदि मे व्यतीत करता है । और कभी भी प्रमाद के वशीभूत होकर स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा तथा राजकथा नही करता उसे ही अतिशय ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है । विकथाए आत्मा को उसकी स्वभाव-स्थिति से विपरीत विभाव-स्थिति मे ले जाती है । उनसे आत्मा की निर्मलता विलीन होकर मलिनता आ जाती है ।

वचनो का प्रयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए, इस सम्बन्ध मे हमारे धर्म-शास्त्रो मे तथा इतर धर्मग्रन्थो मे भी अनेक बाते बताई गई है ।

उन सबमे मुख्य बात यही है कि मनुष्य जब भी बोले, अत्यन्त विचारपूर्वक तथा आत्मा मे विकृति न आवे ऐसी भाषा बोले। विकथाएँ करने की अपेक्षा तो अधिक-से-अधिक मौन रखना उत्तम है। कहा भी है—

'Speach is gold but silence is golden'

यानी बोलना सुवर्ण है किन्तु मौन उसकी अपेक्षा भी बहुमूल्य आभूषण है।

वाणी एक दर्पण है जिसमे मनुष्य के अन्तस्थल की परछाईं दिखाई देती है। इस दर्पण मे मनुष्य का अन्तरग दृष्टिगोचर हो जाता है, क्योकि मनुष्य का आचार-विचार जैसा होगा वैसा ही उसका उच्चारण भी होगा। अन्तर की भावनाएँ ही शब्द का रूप ग्रहण करके मुख के द्वारा बाहर आती हैं। हिन्दी के एक कवि ने कहा भी है—

बोलत ही पहचानिये, साह चोर को घाट।
अन्तर की करनी सबै, निकसै मुंह की बाट॥

विकथाओ मे सर्वप्रथम स्त्रीकथा का उल्लेख है। साधु पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन सिद्धगति प्राप्त करने का सर्वोत्तम मार्ग तथा जन्म-मरण का निरोध करने वाला है। किन्तु इसका पालन तभी हो सकता है जबकि काम-विकार सबधी पठन-पाठन तथा सभाषण आदि सभी से बचा जाय। सक्षेप मे शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक किसी भी क्रिया के द्वारा ब्रह्मचर्य का भग न हो। इसका भग होने पर सभी व्रतो का नाश हो जाता है। स्त्रीकथा करने वाला विषय-विकार से ग्रस्त होकर अहर्निश सताप तथा आकुलता का अनुभव करता है। दिवस मे की गई कथा का सस्कार स्वप्न मे भी पीछा नही छोडता।

इसी प्रकार स्त्रीकथा की तरह बाकी तीन विकथाओ का भी निर्ग्रन्थ को पूर्ण रूप से त्याग करना चाहिये। हर समय खान-पान की वस्तुओ के विषय मे वार्तालाप करने से या कि देश अथवा राज्य के पचडो मे पडने एव तत्सबधी वाद-विवाद करते रहने से भी अमूल्य समय नष्ट होता है और साधुको अतिशय ज्ञान की प्राप्ति के लिये समय ही नही मिल पाता।

(२) ज्ञान-प्राप्ति का दूसरा साधन है विवेक तथा व्युत्सर्ग। इनमे वृद्धि करना ज्ञान-वृद्धि करना है। जो साधक विवेकपूर्वक चिन्तन करता है

सासारिक भोग, विषय तथा कषयादि के दुष्परिणाम को समझकर उनसे विरत रहने का प्रयत्न करता है वह निश्चय ही अतिशय ज्ञान का धारी बन सकता है। भावनाओ मे विवेक जागृत हो और साधक को उसकी पहचान हो जाए इतना ही काफी नही है। उस विवेक को साधु अपनी प्रत्येक क्रिया करते समय अमल मे लाए। पल भर भी उसे विस्मरण न करे और अन्त करण मे रमा ले तब विवेक ज्ञान का लाभ हो सकता है और वह ज्ञानप्राप्ति मे सहायक बनता है। महान् दार्शनिक शेक्सपियर ने कहा है —

Let your own discretion be your tutor, suit the action to the word, the word to the action

अर्थात् अपने विवेक को अपना शिक्षक बनाओ। शब्दो का कर्म से और कर्म का शब्दो से मेल कराओ।

विवेकी पुरुष कीचड मे पडे हुए रत्न को भी खोज निकालते है, जिस प्रकार हस दूध पी लेता है और उसमे मिले हुए पानी को छोड देता है।

विवेकशील जन क्षणिक भौतिक, वस्तुओ के हानि-लाभ से शोक अथवा आनन्द का अनुभव नही करते। विवेक ही बुद्धि को पूर्णता की ओर ले जाता है और जीवन के सभी कर्त्तव्यो मे पथ-प्रदर्शक होता है। विवेकहीन व्यक्ति कभी भी उन्नति के शिखर पर नही पहुँच सकता। उसकी दुर्गति निश्चय ही होती है। विवेक के द्वारा ही क्रोध, मान, माया तथा लोभ आदि विकारो को दूर किया जा सकता है।

विवेक की तनिक-सी कमी के कारण ही बाहुबली के हृदय मे अहकार बना रहा। उस अहकार के कारण वे अपने लघु-भ्राताओ को सयम मे बडा होने पर भी वदन नही कर सके। परिणामस्वरूप एक वर्ष घोर तपस्या करने पर भी उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति नही हुई। किन्तु जब उनकी बहने, साध्वी ब्राह्मी तथा सुन्दरी ने जाकर उन्हे कहा —

वीरा ! म्हारा गज थकी ऊतरो,
गज चढ्याँ केवल न होसी रे।

यह सुनते ही उनके हृदय मे विवेक की बिजली चमक उठी और पलक मारते ही उनके हृदय ने समझ लिया कि कौनसा वह गज है जिसपर मै बैठा हुआ हूँ। उसी समय उनका अहकार रूपी हाथी लुप्त हो गया और उन्होंने

भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में जाकर अपने भाइयों को भी पूर्ण श्रद्धा से वंदन करने का निश्चय कर लिया। इस निश्चय के साथ ही उन्होंने ज्योंही कदम उठाया कि तत्काल उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

तो कितना महान् तथा तात्कालिक प्रभाव विवेक का हुआ? इसके बिना बाहुबली की संयम-साधना तथा घोर तपस्या भी फलवती नहीं हुई। इसीलिये तो कहा है—

समझा समझा एक है, अन-समझा सब एक।
समझा सोई जानिये, जाके हृदय विवेक॥

भावार्थ यही है कि कोई कितना भी ज्ञान प्राप्त करके समझदारी का दावा करे, विवेक के अभाव में उसकी गणना नासमझों में ही की जाएगी। समझदार सिर्फ वही कहलायेगा जिसके हृदय में विवेक की जागृति होगी।

ज्ञान के साथ अगर विवेक नहीं है तो वह ज्ञान ज्ञान नहीं कहला सकता। इसीलिये विवेक को अतिशय ज्ञान की प्राप्ति का अनिवार्य साधन माना है।

इसके बाद आता है 'व्युत्सर्ग' अर्थात् त्याग। मनुष्य आसक्ति तथा ममत्व के कारण संसार के पदार्थों को अपना समझ लेता है। उनपर से ममत्व हटा लेना ही त्याग है।

सांसारिक संबंधों के कारण पिता, पुत्र, पत्नी, परिवार तथा संबंधियों को आत्मीय मानना तथा उन्हें अपना समझना मूढ़ता है। मूढ़ व्यक्ति ही धन, संपत्ति, मकान, ज़मीन और अन्य वस्तुओं को अपनी मानता है तथा उनके प्राप्त होने पर हर्षित और उनके घटने पर आकुल-व्याकुल होता है। ऐसी अशांति के कारण वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता।

विवेकवान् व्यक्ति तो अपने शरीर को भी अपना नहीं मानता और समय आने पर उसका त्याग भी सहर्ष कर देता है। ऐसा व्यक्ति सांसारिक पदार्थों को तो स्वप्न में भी अपना नहीं मानता और उनपर से समस्त मोह-ममता हटा लेता है। वास्तव में ही भोग बंधन का कारण है तथा विरक्ति मुक्ति का।

भोग तथा आसक्ति से मन कभी भी संतुष्ट नहीं हो सकता। इच्छाएँ बढ़ती ही जाती हैं, उनका कभी अंत नहीं होता। कहा भी है —

कसिणं पि जो इमं लोग,
पडिपुण्ण दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणावि से न सतस्से,
इइ दुप्पूरए इमे आया ।। उत्तराध्ययन ८-१६

अर्थात् धन, धान्य, सोना, चादी आदि समस्त पदार्थो से परिपूर्ण यह समग्र विश्व यदि एक मनुष्य को प्रदान कर दिया जाय तब भी वह संतुष्ट नही होगा ।

अगर मानव-जाति भगवान् महावीर के इस कथन को मानकर चलती तो आज मानव-मानव के बीच जो वैमनस्य, वर्गसघर्ष, छीना-झपटी, स्पर्द्धा तथा कलह का प्रसार दिखाई देता है उसका कही चिह्न भी नही होता ।

आज ससार मे सर्वत्र अशाति ही दृष्टिगोचर होती है । मनुष्य मनुष्य का सहायक तथा रक्षक होने के बजाय भक्षक बना हुआ है । एक मनुष्य दूसरे की वस्तु हडपने की फिराक मे है और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को अपने अधीन करने की । एक ओर सहस्रो प्राणी भूख से बिलबिलाते है और दूसरी ओर धनाढ्य व्यापारी अन्न के कोठे भरने की कोशिश मे रहते है । एक ओर नारियो को लज्जा बचाने के लिये चिथडे भी मयस्सर नही होते जब कि दूसरी ओर पेटियो मे वस्त्र अटते नही ।

इस भयानक विषमता को दूर करने के लिये अनेक दल साम्यवाद का प्रचार करने का प्रयत्न कर रहे है । इस सबका कारण है व्युत्सर्ग का विरोधी तत्त्व ग्रहण और आसक्ति । अत जब तक इसके कुप्रभाव को नही समझ लिया जाता है तब तक ससार मे शाति का साम्राज्य नही हो सकता । आज मनुष्य की हवस इतनी बढ गई है कि जिसका ओर-छोर ही कही दृष्टिगोचर नही होता । आज आपकी आवश्यकताओ को आपका यह विशाल भारत देश भी पूरी नही कर सकता । उन्हे पूरी करने के लिये विश्व के कोने-कोने से वस्तुए मगवानी पडती है । फिर भी क्या कही उनकी पूर्ति का, मनुष्य की तृप्ति का चिह्न दृष्टिगोचर होता है ? नही । एक जरूरत पूरी नही होती और उसके साथ दस नवीन ज़रूरतें समक्ष आ जाती है । कवि सुन्दरदासजी ने सत्य ही कहा है .—

जो दस बीस पचास भये,
शत होय हजारन लाख मगेगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असख्य,
पृथ्वीपति होने की चाह जगेगी।
स्वर्ग पाताल को राज्य करो,
तृष्णा अधिकी अति आग लगेगी।
सुन्दर एक सतोष बिना,
शठ ! तेरी तो भूख कभी न भगेगी।

इस प्रकार परिग्रह की तृष्णा की यह आग कभी शात नही होती। भगवान् महावीर ने मनुष्यो की इस प्रवृत्ति को भली-भाँति समझ लिया था और परिग्रह के दुष्परिणामो की जाँच कर ली थी। इसीलिये उन्होने विधान किया था कि जहाँ चार व्रत जीवन की सफलता के लिये आवश्यक है वहाँ परिग्रह का त्याग करना भी अनिवार्य है। पाँचो महाव्रत आत्मकल्याण के अभिलाषी साधक के लिये मुक्ति का सोपान है। आज तक जिन्होने भी मुक्ति प्राप्त की उन्होने ससार की समस्त वस्तुओ का त्याग करके ही की है, उनमे आसक्ति रखकर नही।

बन्धुओ ! आपने समझ लिया होगा कि प्रत्येक प्राणी के लिये और विशेषत निर्ग्रन्थ के लिये तो व्युत्सर्ग अपनाना अनिवार्य है। त्याग ससार की महान् शक्तियो मे से एक है। इस वृत्ति को धारण करने वाला साधक ही आत्म-कल्याण के पथपर बढ सकता है तथा अतिशय ज्ञान का अधिकारी बन सकता है।

(३) ज्ञान-प्राप्ति का तीसरा साधन है धर्म-जागरण करना। शान्त वातावरण मे, जिस समय सासारिक कोलाहल मिट जाता है उस समय एकात मे साधक को धर्मजागरण करके ज्ञानवृद्धि करनी चाहिए। जैनशास्त्रो मे रात्रि का समय धर्म-जागरण के लिये अत्यन्त अनुकूल बताया है। रात्रि के समय मस्तिष्क शान्त रह सकता है तथा विचारो की और आकुल व्याकुल भावो की धमाचौकडी कम हो जाती है। वही समय चिन्तन को बढाने मे उपयुक्त होता है।

मनुष्य की आत्मा मे ज्ञान का अक्षय भडार भरा है। आत्मा ज्ञानमय है, अनन्त एव असीम चेतना का धनी है। उसे सिर्फ अभिव्यक्त करने की आवश्यकता होती है। गुरु तथा ग्रन्थ आदि उसको प्रकाश मे लाने के निमित्त

मात्र ही है। ज्ञान का उपादान कारण तो निज आत्मा ही है। अगर वह शक्ति आत्मा मे न होती तो लाख प्रयत्न करने पर भी उसमे ज्ञान का उदय तथा अभिवृद्धि नही होती। जिस प्रकार कि जड वस्तु मे अनन्तकाल तक प्रयत्न करने पर भी ज्ञान का आविर्भाव नही हो सकता।

सामान्य गृहस्थ को भी धर्म-जागरण अवश्य करना चाहिये किन्तु उसे धनप्राप्ति तथा भोगोपभोग की वस्तुओ की प्राप्ति के लिये इतना समय देना पडता है कि धर्म-जागरण करना उसके लिये कठिन होता है। ससारी जीवो को अर्थ-जागरण मे इतना व्यस्त रहना पडता है कि रात्रि मे भी उनकी उधेडबुन समाप्त नही हो पाती। फिर वे धर्म-जागरण कब करे? हाँ, जो गृहस्थ श्रावक शास्त्रानुसार अपनी जीविका चलता है अर्थात् अल्पारभी एव अल्प-परिग्रही होता है, वह अवश्य धर्म-जागरण के योग्य वातावरण पा सकता है।

किन्तु संयम ग्रहण करने के पश्चात् साधु को तो अपना अधिक से अधिक समय इसमे बिताना चाहिये अन्यथा उसे अतिशय ज्ञान की प्राप्ति होना असभव हो जाएगा। उसका सयम ग्रहण करना निरर्थक सिद्ध होगा। - - -

जिन महात्माओ ने सयमी जीवन को ग्रहण करके उसके अलौकिक आनन्द का आस्वादन किया है उनके उद्गारो से पता चलता है कि उनका जीवन कितना निश्चित, निराकुल तथा मस्ती से भरा हुआ होता है। किसी महात्मा ने कहा है —

कौपीन शतखण्डजर्जरतरं, कन्था पुनस्तादृशी,
निश्चिन्त सुखसाध्यभैक्षमशन शय्या श्मशाने वने।
मित्रामित्रसमानता जिनपतेश्चिन्ताथ शून्यालये,
स्वात्मानन्दमदप्रमोदमुदितो, योगी सुख तिष्ठति॥

अर्थात् सैकडो जगह फटी तथा जर्जर लगोटी और उसी के समान गुदडी ओढने को है। अनायास भिक्षा से मिलने वाला भोजन और शय्या श्मशान हो या कि वन कही भी जमा लेते है। मित्र-शत्रु सब एक समान होते हैं। ऐसे योगी किसी भी सुनसान स्थान मे बैठकर जिनेन्द्र का ध्यान करते रहते है। कभी-कभी अपनी आत्मा के आनन्द मे मगन होते हुए आत्मानन्द के अपूर्व रस का आस्वादन करते है और ज्ञानवृद्धि करने मे रत रहते है।

ऐसा होता है संयमी पुरुषो का जीवन। उनके जीवन मे आकुलता का

प्रवेश कहाँ से हो ? चिन्ता और परेशानियाँ उनके पास कैसे फटकें ? उनके जीवन मे तो आनन्द और मस्ती का ही साम्राज्य बना रहता है।

ऐमे निराकुल साधक ही अतिशय ज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं और ज्ञानावरणीय कर्म का समूल रूप से नाशकर सर्वज्ञता प्राप्त कर सकते है। आत्मा मे ज्ञान रूपी सूर्य का प्रखर प्रकाश है किन्तु कर्म रूपी आवरण उसे आच्छादित किये रहते हैं पर जब धर्म-जागरणा रूपी तेज तूफान चलता है तो वे आवरण छिन्न-भिन्न हो जाते है। जिस प्रकार सूर्य को मेघ ढक लेते हैं और उसकी उज्ज्वल किरणो को पृथ्वी पर नही गिरने देते, किन्तु जब आंधी चलती है तो मेघ बिखर जाते है तथा सूर्य की सुनहरी रश्मियाँ अपना आलोक बिखेरने लगती है।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। वह लिया अथवा दिया नही जाता। शिक्षक अथवा धर्मगुरु इसे सिर्फ जगाते हैं। यानी वह दिया-लिया नही, वरन् जगाया जाता है। अगर उसे जागृत न किया जाए तो वह आवृत, अनभिव्यक्त या दबा पडा रहता है।

जिस प्रकार एक पाषाण मे मूर्ति बनने की क्षमता होती है किन्तु अगर कुशल कलाकार उसे तराश कर गढे नही तो अनन्त काल तक वह पाषाण मूर्ति बनने की योग्यता रखता हुआ भी यो ही पडा रहता है। दियासलाई की एक सीक को लीजिये। उसमे जलने की योग्यता स्वय होती है किन्तु बिना माचिस से रगडे क्या वह जल सकती है ? नही। उसे जलाने का प्रयत्न करना ही पडता है।

बस इसी प्रकार आत्मा मे ज्ञान परिपूर्ण है पर उसकी वृद्धि के लिये धर्म-जागरण करना अनिवार्य है। भले ही साधक गुरुओ के अनेकानेक उपदेश सुन ले, अनेक धर्मग्रन्थो को रट ले किन्तु अपनी आत्मा की ज्ञान-निधि पर छाये हुए कर्मों के आवरणो को धर्मजागरण करके न हटाया तो वे प्रवचन तथा रटी हुई विद्या उसकी आत्मा तक नही पहुँच सकती और उनसे कोई लाभ नही हो सकता।

इसके अतिरिक्त प्राप्त किये हुए ज्ञान को विस्मरण न होने देने के लिये, उसमे गंभीरता और विशदता लाने के लिए सतत वृद्धि के लिये भी साधक को पर्याप्त समय धर्मजागरण मे लगाना चाहिये। इसके लिये विद्वानो की तथा ज्ञानी पुरुषो की सगति यथाशक्य करना आवश्यक है। अभ्यास न

रहने से सीखा हुआ ज्ञान भी विस्मृत हो जाता है :—'अनभ्यासे विष विद्या' अभ्यास के विना विद्या विष रूप हो जाती है।

ज्ञान मानव की आत्मा को सस्कारो के द्वारा उन्नत बनाता है। अतः उसकी सार्थकता चारित्र निर्माण होने मे है। कहा भी गया है—

'ज्ञान वन्ध्य क्रियां विना'

ज्ञान के अनुसार अगर चारित्र न हुआ तो वह ज्ञान निष्फल है—उसी प्रकार जिस प्रकार औषधि का ज्ञान मात्र ही निरोगता के लिए निरर्थक है। सच्चा पडित और ज्ञानी वही कहला सकता है जो कर्मशील हो। दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर ने कहा है—

'The great aim of education is not knowledge but action'

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ज्ञान नही, बल्कि चारित्र है।

कहने का सार यही है कि साधक को अतिशय ज्ञान की प्राप्ति के लिये शात व एकान्त वातावरण मे धर्म-जागरणा तो करनी ही चाहिये पर उसके साथ ही जागरण के द्वारा प्राप्त किये हुए ज्ञान को सत्सग तथा अभ्यास से उज्ज्वल बनाते हुए चारित्र मे उतारना चाहिये। ये सभी बातें ज्ञानाभ्यास के विभिन्न अग है।

(४) ज्ञान-प्राप्ति के साधनो मे चौथा साधन है शुद्ध तथा पवित्र आहार। कहा जाता है कि जैसा भोजन किया जाता है वैसी ही बुद्धि होती है है। शुद्ध भोजन बुद्धि को निर्मल बनाता है और निर्मल बुद्धि ज्ञान-प्राप्ति का कारण है। कहा भी है—

जैसा अन जल खाइये, तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये, तैसी बानी सोय॥

अगर मानव दिव्य ज्ञान की प्राप्ति का इच्छुक हो तो उसे दूषित आहार का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। दूषित आहार से बुद्धि भ्रष्ट होती है और ज्ञानप्राप्ति मे बाधा पडती है। जैसा मिला वैसा ही भक्षण कर लेना बुद्धिनाश का आरम्भ करना है। जो साधक खान-पान की पवित्रता का ध्यान नही रखता उसे अतिशय ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती।

शास्त्रो मे मुनियो के आहार की शुद्धि का विस्तृत विवेचन दिया गया है। इसका कारण यह है कि आहार के साथ मनुष्य के आचार-विचारका बडा घनिष्ठ सबध है। मुनि की सयम साधना तभी निर्विघ्न चल सकती है जब कि उसका आहार सयम के अनुरूप हो।

आहार के विषय मे जो व्यक्ति लोलुपता रखता है वह सयम का निर्वाह सम्यक् रूप से नही कर सकता। इसलिये साधु को आहार के विषय मे अत्यन्त सयत रहना चाहिये, ऐसा शास्त्रो मे निर्देश किया गया है।

साधु के लिये भिक्षा के बयालीस दोषो को टालने का उल्लेख है। उनमे से सोलह दोष स्वय साधु के द्वारा, सोलह भिक्षा प्रदान करने वाले गृहस्थ के द्वारा तथा दस दोष दोनो के द्वारा लग सकते है। इस प्रकार ४२ दोषो का पूर्णरूप से ध्यान रखते हुए साधु को आहार की गवेषणा करनी चाहिये।

साधु हिंसा के पूर्ण त्यागी होते हैं। त्रस या स्थावर किसी भी प्राणी की हिसा का उन्हे त्याग होता है। अत साधु को सचित्त आहार ग्रहण नही करना चाहिये। अगर ऐसा आहार ग्रहण कर लें तो वे दूषित आहार ग्रहण के दोषी बन जाते हैं।

साधु को सिर्फ इतना ही ध्यान रखना काफी नही है कि वह उचित आहार ग्रहण करता है। उसे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि भोजन गृहस्थ ने अपने उपयोग मे लाने के लिये ही तैयार किया है और उसका कुछ भाग वह साधु को देना चाहता है। वही भाग साधु। मर्यादा के अनुकूल व ग्रहण करने योग्य होता है तथा शुद्ध आहार कहलाता है।

बधुओ! साधु को शुद्ध आहार मिले, इसमे आप श्रावको को भी पूर्ण ध्यान रखने की आवश्यकता है। यद्यपि गृहस्थ सम्पूर्ण रूप से हिंसा का त्याग नही कर सकता किन्तु उसे सकल्पपूर्वक त्रस जीवो की हिंसा करने का तथा विना कारण स्थावर जीवो की हिंसा करने का त्याग तो अवश्यमेव करना चाहिये। मद्य, मास तथा कद-मूल का सेवन न करना श्रावक को उचित है।

ऐसे श्रावक ही साधु को निर्दोष आहार दे सकते हैं तथा स्वय अपने को व साधु को भी दोषो का भागी होने से बचा सकते हैं। निर्दोष आहार भी साधु को अनासक्त भाव से ही ग्रहण करना चाहिये।

भोजन मे आसक्ति का होना भी महान् दोषो का कारण है। आसक्ति पूर्वक चने खाना भी कर्मबंध का कारण होता है और आसक्तिरहित होकर मिष्टान्न खाना भी निर्जरा का कारण। निर्दोष आहार अनासक्त होकर करना ही अतिशय ज्ञान की प्राप्ति मे सहायक बनता है।

सच्चा साधक अपने सम्यक्त्व को विशुद्ध बनाता हुआ निरन्तर ज्ञान-प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है। वह ज्ञानप्राप्ति के चारो साधनो का पूर्ण रूप से ध्यान रखता है तथा उसके बाधक कारणो से बचाव करता रहता है।

ज्ञानी पुरुष विषयो की ओर जाती हुई पाँचो इन्द्रियो को, पापोत्पादक विचारो को तथा भाषा सम्बन्धी समस्त दोषो को त्यागकर निरतर ज्ञान-प्रवृत्ति, ज्ञान-प्राप्ति मे सलग्न रहते है। क्योकि :--

"ज्ञानेन कुरुते यत्न यत्नेन प्राप्यते महत् ।"

— मनुस्मृति

ज्ञान की प्रेरणा मे ही आत्मा विकास के मार्ग मे गति करती है और उसी के परिणामस्वरूप ईश्वरत्व — महान् फल की प्राप्ति होती है।

ज्ञान ही भौतिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार के अधकार को नष्ट करने वाला दीपक है —

"नास्ति ज्ञानसमो दीप सर्वान्धिकारनाशने ।"

सभी प्रकार के अधकार को नष्ट करने मे ज्ञान-शक्ति के समान दूसरा कोई दीपक नही है।

चर्मचक्षु तो केवल वर्तमान मे उपस्थित भौतिक पदार्थो को ही देख सकते है, किन्तु ज्ञान एक ऐसा नेत्र है जिसके द्वारा तीनो कालो की घटनाओ को देखा जा सकता है और आत्मा अपनी इस शक्ति के द्वारा समस्त पापो से मुक्त होकर जन्म-मरण की परम्परा का नाश कर देती है। ज्ञान के द्वारा ही सच्चा साधक, लौकिक तथा लोकोत्तर कल्याण कर सकता है। जैसा कि पूर्व मे बताया गया था, अन्तर्मुहूर्त्त मे ही अनन्त सुख का अधिकारी बन सकता है। मनुजी ने कहा है—

"तपसा किल्विष हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ।"

अर्थात् तप की साधना करने से पाप नष्ट हो जाते हैं और ज्ञान की आराधना करने से आत्मा अमरत्व को प्राप्त करती है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति

होने पर ही आत्मा अजर-अमर पद को प्राप्त कर परमात्मदशा प्राप्त कर सकता है।

इसीलिये सच्चे साधक को चाहिये कि वह अगर अतिशय ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो मन पर पूर्ण नियत्रण रखते हुए तथा अपना एक क्षण भी व्यर्थ न खोते हुए दत्तचित्त होकर ज्ञान की आराधना करे। ज्ञानप्राप्ति मे बाधाओ का आना स्वाभाविक है। किन्तु बाधाओ पर विजय पाने से ही ज्ञान प्राप्त होता है। कसौटी पर कसे विना स्वर्ण शुद्ध व निर्मल नही होता।

ज्ञान-पथ पर चलने वालो को पग-पग पर बाधा का सामना करना पडता है पर आगे वही बढ पाते है जो स्थिर रहते है, हिम्मत नही हारते। ससार के प्रलोभन प्रत्येक क्षण मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते है किन्तु ज्ञानप्राप्ति का इच्छुक साधक किसी ओर अपनी दृष्टि नही टिकाता तथा चिकने घडे पर पानी की तरह फिसलती हुई उसकी दृष्टि सिर्फ अपनी आत्मा की ओर ही उन्मुख रहती है। तभी वह अतिशय ज्ञान का अधिकारी बनकर उस ज्ञानरूपी दिव्य अग्नि मे सभी कर्मो को भस्म कर देता है तथा "ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते" इस उक्ति को सार्थक बनाता है। आत्मा को परमात्मा बना देने वाला मूलमत्र अतिशय ज्ञान ही है और उसका अधिकारी पुरुष अक्षय सुख की प्राप्ति करता है।

●

आप तिरे औरन को तारे

इस विराट् विश्व मे जड और चेतन दो ही मूल तत्त्व है। इन दोनो मे से जड वस्तुओ के विषय मे तो आप और हम सभी जानते हैं कि उनमे कोई भी शक्ति ऐसी नही होती जिसके द्वारा सोच-समझकर वे स्वय अपने लिये कुछ कर सके या दूसरो के लिये। यह शक्ति अगर किन्ही मे है तो चेतन प्राणियो मे ही है।

किन्तु चेतन प्राणियो मे भी क्या सभी मे ऐसी शक्ति होती है जिससे वह अपना भला बुरा समझ सकें और दूसरो के दुख व कष्टो का अनुभव कर सके ? नही !

ससार मे हम देखते है कि लाखो, करोडो प्रकार के जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, कीडे, मकौडे, डास मच्छर आदि जन्म लेते है और मृत्यु को प्राप्त होते है। किन्तु क्या महत्त्व है उनका ! न उनमे असाधारण मस्तिष्क होता है और न वुद्धि अथवा विवेक ही। सिर्फ जीते है, अपनी शक्ति के अनुसार उदरपूर्ति कर लेते है और मर जाते है।

सिर्फ मानव ही एक ऐसा प्राणी इस पृथ्वी पर है जो महा-महिम कहला सकता है। सर्वप्रथम तो यह विचारणीय बात है कि ससार की असख्य योनियो से बचकर मनुष्ययोनि पा लेना कितनी वडी बात है। अनन्त-अनन्त सुकृतो के फलस्वरूप ही मनुष्य योनि प्राप्त होती है। जिन्हे यह योनि प्राप्त होती है वह कितना भाग्यवान् होता है, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। क्या एक करोडपति अपना समस्त वैभव देकर और चक्रवर्ती सम्राट् अपने छः खड के साम्राज्य को देकर भी मानव जीवन को खरीद सकता है ? नही ! किसी भी मूल्य पर एक मानव-जीवन खरीदा नही जा सकता। फिर ऐसे मानव जीवन को प्राप्त करके भी अगर मानव ने अपने तथा औरो के कल्याण के लिये कुछ नही किया तो इसे प्राप्त करने से क्या लाभ हुआ ?

मानव समस्त भूमडल के प्राणियो से उन्नत व श्रेष्ठ माना जाता है।

सर्वज्ञ देव का कथन है कि सिर्फ मनुष्य ही चरम सीमा का आध्यात्मिक विकास कर सकता है। मनुष्य से भिन्न देवताओ की भी सृष्टि होती है तथा सामारिक सुखो की अपेक्षा उन्हे अधिकतम सुख प्राप्त होते है किन्तु जहा आध्यात्मिक साधना तथा उसकी सिद्धि की ओर ध्यान जाता है तो देवता उस दृष्टि से अशक्त साबित होते हैं। देवता तो सिर्फ चार गुणस्थानो को ही पा सकते हैं किन्तु मानव चौदह गुणस्थानो को पार करके परमात्मपद भी प्राप्त कर लेता है।

यदि शारीरिक बल की तुलना की जाए तब तो वनराज सिंह, मदमस्त केसरी (हाथी) और अन्य अनेक जानवर भी मनुष्य से अधिक शक्तिशाली दिखाई देते है किन्तु उनमे वह बौद्धिक बल कहा जो मानव के मस्तिष्क मे ही होता है। यह बौद्धिक बल ही तो है जिसके द्वारा वह दूसरे समस्त प्राणियो को अपने अधीन कर लेता है। तभी तो नीतिकार कहते हैं —

बुद्धिर्यस्य बल तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ?

जिसके पास बुद्धि है वही बलवान् है। निर्बुद्धि के पास बल नही होता।

बुद्धि और विचारशक्ति के कारण ही मनुष्य जीव-जगत् का सम्राट माना जाता है। उसके पास असाधारण मस्तिष्क और हृदय होता है। विशिष्ट विवेक और बुद्धि होती है और अपने ज्ञान के भडार को असीम बनाने की शक्ति होती है।

बधुओ! ऐसे महान् जीवन को पाकर आप इसे किस प्रकार सार्थक बनाना चाहते हैं ? आप अपने किस लक्ष्य के समीप पहुचना चाहते हैं! क्या इसपर आपने कभी विचार किया है ? अगर नही, तो क्या उसका निर्णय आपको अविलम्ब ही नही कर लेना चाहिये ? जीवन निमेष मात्र भी बढाया नही जाता अत. आपको आज से ही निश्चय कर लेना चाहिये कि आप किस प्रकार अपने जीवन को सफल बनाना चाहते है!

जीवन की सफलता के विषय मे कुछ लोगो का ख्याल होता है कि जिसने अच्छे कार्य करके प्रतिष्ठा प्राप्त की है उसका जीवन सफल है। कोई कहता है—जिसकी वाणी मे सरसता है और जो लक्ष्मी का सदा दान करता है उसका जीवन सफल है। किन्तु वास्तविक सफलता की ये कसौटिया नही हैं।

ससार मे सिर्फ उन्ही महापुरुषो का जीवन सफल माना जा सकता है जो समस्त बन्धनो को नष्ट करके समग्र आत्मिक शक्तियो का विकास करके

अपने दुखो का अत करना चाहते है और दूसरो के दुखो का भी । जो अपने भव-भ्रमण के अत करने का प्रयत्न करते है और उसी प्रकार ससार के अन्य समस्त जीवो के भव-भ्रमणनाश की भावना रखते है तथा प्रयास करते रहते हैं । सक्षेप मे अपना तथा दूसरो का कल्याण हो, ऐसी कामना के साथ सदा प्रयत्नशील रहते हैं ।

अपने लिये तो सभी जीते है पर जो दूसरो के लिये भी जीता है वही महान् है । आत्मीयता की इस भावना के विकास का भी एक क्रम होता है । कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जो सिर्फ अपने ही स्वार्थ तथा अपने ही शारीरिक सुख का ध्यान रखते है । कुछ ऐसे होते है जो अपने परिवार व सगे सबधियो की हितचिता मे लीन रहते हैं । उनसे जो उच्च होते है वे अपने देश की भलाई व सुखसमृद्धि का प्रयत्न करते है किंतु जिनका हृदय उनमे भी अधिक विशाल होता है, वे विश्व के प्रत्येक प्राणी के सुख को अपना सुख तथा दुख को अपना दुख समझते हैं । उनके हृदय मे भगवान महावीर की पुनीत शिक्षा के अनुसार सदा यही कामना रहती है -

सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ।।

अर्थात् सभी प्राणी सुखी हो, सभी नीरोग रहे, सभी का कल्याण हो, कोई भी कष्ट का भागी न बने ।

सच्चे सन्त विश्व के समस्त प्राणियो को अपना जैसा ही समझते है । प्रत्येक नर-नारी यहा तक कि क्षुद्र से क्षुद्र जीव-जन्तु को भी वे आत्मवत् मानते हैं । ऐसे विशाल हृदय वाले तथा उदार भावना वाले महापुरुष न केवल अपने लिये सुख व शाति की उपलब्धि करते हैं, प्रत्युत जहा भी जाते है वही शाति का साम्राज्य स्थापित कर देते है । उनके साथ कोई दुश्मनी करे तब भी घृणा की अथवा बदले की भावना उनके हृदय मे नही आती । इसके विपरीत वे उस प्राणी की भी कल्याणकामना ही करते है ।

भगवान् महावीर को विषधर चड कौशिक ने डस लिया, किन्तु भगवान के हृदय मे तब भी उसके प्रति महान् दया की भावना ही थी । ईसामसीह को सूली पर चढाया गया तब भी उनकी भावना अपने घातको के लिये यही थी कि भगवान् इन्हे सद्‌बुद्धि दे । आज भी ऐसे महपुरुषो की कमी नही है । यद्यपि आधुनिक समय के विषय मे कहा जाता है कि कलिकाल अपना

अनिष्ट प्रभाव लेकर आ गया है। लोगो की मनोवृत्ति दूपित हो गई है और न वे नीति-अनीति की परवाह करते है न पाप-पुण्य की ही।

निस्सदेह इस कथन मे, कुछ अशो मे सिचाई है किन्तु यह नितात सत्य नही है। आज भी हम दैवी शक्ति से अलकृत ऐसे दिव्य पुरुषो को पाते है, जिनके हृदय मे वैर, विरोध, राग, द्वेप तथा वैमनस्य क्षण भर के लिये भी स्थान नही पाते। वे सयमशील समभावी तथा सद्दर्शी होते है। वे किसी भी समय और किसी भी परिस्थिति मे शाति और धैर्य का त्याग नही करते, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—

> **निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तवन्तु,**
> **लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।**
> **अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,**
> **न्याय्यात्पथ प्रविचलन्ति पद न धीरा॥**

अर्थात् धीर पुरुपो की चाहे निन्दा हो या स्तुति, वैभव उनके पास आवे या जावे, मृत्यु उनकी आज ही हो जाय या युग-युग तक जीवन बना रहे वे किसी भी अवस्था मे धर्म तथा न्याय के पथ से विचलित नही होते।

ऐसे ही व्यक्ति अपने जीवन को उन्नत बनाते है और साथ ही दूसरो को भी सन्मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं। उनका जीवन वास्तव मे एक नौका के सदृश होता है जो स्वय तैर जाती है तथा अपने आश्रित अन्य प्राणियो को भी पार उतार देती है।

स्थानाग सूत्र की एक चौभगी मे मानवहृदय की भावनाओ का सूक्ष्म विवेचन करके पुरुषो के चार प्रकार बताए हैं। सूत्र इस प्रकार है—

'चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तजहा—आयत-करे नामेगे नो परत-करे, परतकरे नामेगे नो आयतकरे, एगे आयतकरे वि परतकरे वि, एगे णो आयतकरे णो परतकरे।'

अर्थात् पुरुप चार प्रकार के होते हैं—

(१) जो अपने भवो का अन्त करते है पर दूसरो के भवो का नही।

(२) जो दूसरो के भवो का अत करते है पर अपने भवो का नही कर पाते।

(३) जो अपने भी तथा पर के भी भवो का अंत करते हैं।

(४) वे पुरुष, जो न तो अपनी भवपरम्परा का अंत कर पाते है और न दूसरो की।

'प्रथम प्रकार के पुरुषो मे उनका समावेश होता है जो स्वय तो भव-सागर पार कर जाते है किन्तु औरो को नही करा सकते। वे अपनी ही जन्म-मरण की परम्परा का नाश करते है। ऐसे पुरुष होते है प्रत्येक बुद्ध।

वैसे बुद्ध तीन प्रकार के होते है। (१) स्वय बुद्ध (२) प्रत्येक बुद्ध तथा (३) बोधित बुद्ध।

स्वयबुद्ध वे होते है जो किसी गुरु के द्वारा ज्ञान प्राप्त नही करते किन्तु अपने क्षमोपशम के द्वारा जातिस्मरण ज्ञान होने पर तीर्थंकर की तरह स्वय ही ज्ञान प्राप्त कर लेते है।

प्रत्येक बुद्ध भी यद्यपि बिना गुरु के ही ज्ञान प्राप्त करते है किन्तु उनके बोध प्राप्त करने मे कोई बाह्य निमित्त भी अवश्य होता है।

तीसरे जो बोधितबुद्ध होते है वे अपने गुरु मे ज्ञान प्राप्त करते है। आज जो साधु, महात्मा, सतजन पाए जाते है वे गुरुओ के द्वारा प्राप्त ज्ञान को ग्रहण करने के कारण बोधितबुद्ध कहे जा सकते हैं।

हाँ, तो मै उन प्रत्येक बुद्धो के विषय मे कह रहा था जो स्वय अपने भवो का नाश कर लेते है पर दूसरो का नही करते। इनकी विशेषताएँ यही है कि ये किसी अन्य को गुरु नही बनाते। किसी भी बाह्य निमित्त के योग से उन्हे जाति स्मरण ज्ञान हो जाता है। वे पिछले भवो के साधु-जीवन का स्मरण आने से विरक्त हो जाते है। ऐसे पुरुष किसी को शिष्य नही बनाते और न उपदेश देते है। वे स्वय उत्कट साधना करते है तथा कर्मो का समूल नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

वैसे तो तीर्थकरो के समय मे अनेक प्रत्येक बुद्ध हुए है किन्तु भगवान् महावीर स्वामी के समय मे जिनका मुख्य रूप से वर्णन आता है वे है (१) नमिराज (२) निग्गई (३) दुर्मुख तथा (४) करकण्डू।

विदेहराज नमिराज को विरक्ति उस समय हुई जब कि उनकी अत्यन्त रुग्णावस्था-दाहज्वर मे उनकी रानिया चन्दन घिस रही थी। रानियो के करो मे ककण (चूडिया) थे। उनका शब्द राजा को अत्यन्त कष्टकर मालूम हो रहा

था। रानियो ने सिर्फ एक-एक चूडी रखकर सब चूडिया खोल दी। जब चूडिया खोल दी गईं तब राजा को अत्यत शाति महसूस हुई। उनके हृदय मे यह भावना आ गई कि ससार के समस्त पदार्थ आत्मा के लिये अहितकारी हैं, एकाकीपन मे ही सच्ची शक्ति है।

इसी प्रकार कलिंग के राजा करकण्डू को वैराग्य हुआ था। एक बार वे वन-यात्रा करने के लिये गए थे। लौटते समय अचानक ही वे अपनी गोशाला के निरीक्षणार्थ पहुँचे। वहा उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दर, श्वेत, हृष्ट-पुष्ट बछडा देखा। बछडा उनके मन को अत्यन्त प्रिय लगा, अत उन्होंने उसके पालन-पोषण के लिये कर्मचारियों को विशेष सावधानी रखने की हिदायत दी और कहा—इसकी माता का सारा दूध इसे पिलाया जाय तथा समय-समय पर इसको अन्य पौष्टिक पदार्थ भी खिलाए जायें।

बछडा बडा सुन्दर था। पौष्टिक पदार्थ खाकर वह और भी निखर आया। राजा प्राय उसको देखते, खिलाते तथा मुदित हुआ करते। कुछ वर्ष बीतने पर बछडा युवावस्था पार कर गया और वृद्धावस्था की ओर बढ चला। अत मे एक दिन ऐसा आया कि वह अतिम घडिया गिनने लगा।

राजा करकण्डू उसके पास ही थे। वे सोचने लगे—मेरे देखते-देखते वह सुन्दर तथा मनमोहक बछडा कैसे वृद्ध हो गया! वृद्ध ही नही, आज यह अपनी अतिम सासें ले रहा है। यह निमित्त मिला कि राजा को ससार के समस्त पदार्थो की नश्वरता समझ मे आ गई और वे विरक्त हो गए। उन्होने समझ लिया कि एक धर्म के अलावा ससार की समस्त वस्तुए नश्वर है अत धर्म का सहारा लेकर आत्मा का कल्याण करना चाहिये। प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने धर्म की महिमा बडे सुन्दर ढग से समझाई है—

> ससार सारा जिसके बिना है, अत्यन्त निस्सार मसान जैसा,
> साकार है शाति वसुधरा की, हे धर्म! तू ही जग का सहारा।
> तीर्थेश चक्री अवलब लेके, ससार से हैं तरते सदा ही,
> आराधना को मुनिराज तेरी, आगार को त्याग अरण्य जाते।

बधुओ! धर्म आत्मा का विषय है और उसकी वृद्धि चिंतन से, ज्ञान से, तपस्या से तथा साधना से होती है। महात्मा गाधी ने धर्महीन मनुष्य की स्थिति का वर्णन किया है--

"बिना धर्म का जीवन बिना सिद्धात का जीवन होता है और बिना सिद्धान का जीवन वैसा ही है जैसा कि बिना पतवार का जहाज। जिस तरह बिना पतवार का जहाज मारा-मारा फिरेगा, उसी तरह धर्म-हीन मनुष्य भी ससार-सागर मे इधर-से-उधर मारा-मारा फिरेगा और कभी भी अपने अभीष्ट स्थान तक नही पहुच सकेगा।"

अब हम अपने मूल विषय पर आए। मनुष्य के चार प्रकारो की चर्चा की जा रही है। प्रथम प्रकार के पुरुष, जो स्वय तिर जाते है पर दूसरो को नही तिरा सकते, उनके विषय मे आप समझ चुके होगे।

दूसरे प्रकार के वे पुरुष होते है जो दूसरो के भवो का अन्त कर देते हैं किन्तु अपने भवो का अन्त नही कर पाते। वे उपदेश देते है और उसे सुनने वाले जो चरम शरीरी भव्य होते है वे उसी भव मे मुक्त हो जाते है किन्तु उपदेश देनेवाले मुक्ति प्राप्ति नही कर पाते। 'दिया तले अन्धेरा' कहावत यहा चरितार्थ होती है।

आपको आश्चर्य हो सकता है कि जो औरो को तार देता है वह स्वय क्यो नही तर पाता? पर यह सत्य है और अनेक उदाहरण इस प्रकार के हमारे सामने आते हैं। इस प्रकार के साधु द्रव्यलिंगी साधु कहलाते है।

आचार्य अगारमर्दक के पाँच सौ शिष्य थे। वे सभी, आचार्य के उपदेश का श्रवण करते थे तथा अपनी सयमसाधना पूर्ण दृढतापूर्वक करते थे। पूर्ण सयम का पालन करने के कारण शिष्य मोक्ष को प्राप्त हुए किन्तु आचार्य उससे वचित ही रहे।

एक बार एक राजा को स्वप्न आया कि पाँच सौ हाथियो का एक झुड चला आ रहा है किन्तु उन सभी का नेतृत्व एक भैसा कर रहा है। कुछ काल पश्चात् राजा को समाचार मिले कि आचार्य अगारमर्दक अपने पाँच सौ शिष्यो के साथ उनके नगर की ओर पधार रहे हैं।

राजा ने अपने स्वप्न को ध्यान मे लाते हुए उन सतो की परीक्षा लेने का विचार किया। नगर के बाहर जहा साधु ठहरे थे, रात को उस मकान के चारो ओर कोयला बिछवा दिये।

कुछ रात्रि बीतने के बाद जब साधु बाहर निकले तो जमीन काली काली देख कर विचार करने लगे कि दिन को तो यहाँ कुछ भी नही था।

अब ये हजारो जीव कैसे आगए ? समयानुसार सभी शिष्य बाहर गए पर कोयलो को जीव-जन्तु समझकर वापिस लौट आए।

थोडी देर बाद आचार्य निकले और नि शकभाव से, ये कीडे-मकोडे है या क्या इस बात का विचार किए बिना ही उन्हे रौदते हुए चल पडे।

इस प्रकार निष्करुण आचार्य अगारमर्दक ने बिना परीक्षा किए कोयलो को रौंद दिया। इसी घटना के कारण उनका अगारमर्दक नाम हुआ। हृदय मे करुणा भाव न होने के कारण उनके भवभ्रमण का अन्त नही हुआ जब कि उनके शिष्य मुक्त हो गए।

मुनिवृत्ति एक ऐसी कसौटी है जिसपर मनुष्य की शान्ति, सयम तथा दया वृत्ति की परख होती है। जिनके हृदय मे करुणा नही है वे मुनिवृत्ति अगीकार करके भी वास्तविक मुनिपद के अधिकारी नही हैं।

अहिंसा व करुणा की महत्ता को प्रत्येक धर्म ने एक स्वर से स्वीकार किया है। इस्लाम जैसे धर्म मे भी दया करने के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। एक स्थान पर लिखा है —

'मुहम्मद साहब अपने शत्रुओ से बचने के लिये एक अवसर पर घर से निकल पडे किन्तु शत्रुओ ने उनका पीछा किया। मुहम्मद साहब एक गुफा के समीप पहुचे, पर उसके मुख पर मकडियो के जाले होने के कारण कही अन्यत्र छिप गए। प्राणहारी सकट की घडी मे भी मुहम्मद साहब मकडी के जाल तोडने की निर्दयता न कर सके।

शत्रु जब वहा पहुचे तो यह देख कर कि गुफा के द्वार पर मकडी के पुराने जाले ज्यो के त्यो विद्यमान हैं, उस ओर नही गए और लौट आए। इस प्रकार मुहम्मद साहव के करुणा भाव ने उनकी प्राणरक्षा की।

कहने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य कितना भी विद्वान् क्यो न हो, और कितना भी उपदेश देने मे कुशल क्यो न हो, पर अगर वह स्वय उन उपदेशो के अनुसार आचरण नही करता और अगर उसके हृदय मे करुणा भाव नही है तो वह दूसरो को सन्मार्ग दिखाकर दूसरो का कल्याण कर सकता है पर अपना नही कर पाता। ऐसे व्यक्तियो के लिये ही कहा जाता है—

पर उपदेश कुशल बहुतेरे,
जे आचरहिं ते नर न घनेरे।

आप तिरे औरन को तारे

दूसरो को उपदेश देने वाले तो बहुत होते है किन्तु उनपर स्वय आचरण करने वाले विरले ही मिलते है। इसके विपरीत, जो सच्चे साधक हैं वे प्रवचन-प्रशसा अथवा गुरु-पद प्राप्त करने के अभिलाषी नही होते, उनका समस्त प्रयास अपनी आत्मा को उन्नत करने के लिये होता है। ऐसे ही एक साधक का कथन है —

There is nothing, I need so much as norishment for my selfesteem

—मुझे दूसरी किसी वस्तु की उतनी आवश्यकता नही है जितनी कि आत्मपूजा की भूख के पोषण की।

अब हम तीसरे प्रकार के पुरुषो के विषय मे विचार करने जा रहे है। तीसरे प्रकार के पुरुष वे होते है जो कि अपने जन्म-मरण के दु खो का अन्त करते है तथा दूसरो के दु खो का भी अन्त करते हैं।

ऐसे दिव्य पुरुष तीर्थंकर है, जो उत्कट साधना करके केवलज्ञान की प्राप्ति करते है और फिर भव्य जीवो को तात्त्विक उपदेश देते हुए उनके दु खो का भी अन्त करने मे निमित्त बनते है। तीर्थंकरो की धर्मदेशना से श्रोता पुरुष भी अपने समस्त कर्मो का नाश कर लेते है।

इस प्रकार तीर्थंकर स्वय मुक्त होते हैं तथा दूसरो को भी मुक्त करते हैं। स्थविरकल्पी साधु भी इसी कोटि के होते है। वे भी अपने को तथा अपने साथ दूसरो को भी भव-सागर से पार उतार देते हैं।

चौथी श्रेणी के वे पुरुष होते है जो न तो अपना कल्याण कर सकते हैं और न दूसरो का ही। न वे अपने कर्मो का ही नाश करते है और न दूसरो के कर्मो को नष्ट करने मे सहायक होते है।

ऐसे पुरुष अज्ञानी कहलाते है। वे कर्मो के भार से लदे हुए जन्म-मरण के चक्र मे फसे रहते हैं और अनेकानेक योनियो मे चक्कर खाते-फिरते हैं। उनमे से वहुतो मे एक वडा अवगुण यह होता है कि अपने आपको वडा ज्ञानी समझते है। जानते कम हैं किन्तु जानने का दावा वहुत करते है। वे अपने क्षुद्र ज्ञान को भी बोध की पराकाष्ठा मानते हैं। यह भ्रान्ति ही उनकी दयनीय दशा की द्योतक होती है। क्योकि वे अपनी अज्ञानता को भी नही पहचानते और जो अज्ञानता से अनभिज्ञ हो वह उसे दूर कैसे कर सकता है! वह कभी भी यह नही समझ पाता कि—

'To be proud of learning is the greatest ignorance'—अपनी विद्वत्ता पर अभिमान करना सबसे बडा अज्ञान है।

अपने झूठे ज्ञान के दभ के कारण वे ज्ञानियो की उपेक्षा तथा उनका परिहास भी करने मे नही चूकते। कहा भी है—

निपट अबुध समझै कहा, बुध-जन-वचन-विलास।
कबहू भेक न जानई, अमल कमल की बास॥

ऐसे अज्ञानी साधक सत्-असत् मे होनेवाले भेद को नही समझते तथा सत् का त्याग करके असत् को अपना लक्ष्य बना लेते है। असत् ही अधकार कहलाता है और उसमे अज्ञानी विवेकरूपी दीपक के बिना ठोकरें खाते रहते है। कनफ्यूशस ने कहा है—

Ignorance is the night of the mind

अज्ञान मन की रात्रि है इसमे भटकने वाला साधक अपने भव-भ्रमण का कदापि अन्त नही कर सकता और न दूसरो के भवो का अन्त करने की क्षमता प्राप्त कर सकता है।

सज्जनो! स्थानाग सूत्र की चौभगी के आधार पर जिन चार प्रकार के पुरुषो के विषय मे बताया है, आपने उनके विषय मे समुचित रूप से जान लिया है। आपने यह भी जान लिया है कि किस प्रकार के पुरुष अपने जन्म-जन्मातरो की परम्परा को समाप्त कर सकते है और दूसरो के भी सहायक बनते है। ऐसे तरण-तारण पुरुष बन सकना अत्यन्त उत्कृष्ट साधना तथा अलौकिक आत्मशक्ति का कार्य है।

आज साधारण व्यक्ति के लिये इतनी उच्चता प्राप्त कर लेना असभव नही तो भी महादुस्तर कार्य अवश्य है। फिर भी मनुष्य को हताश नही होना चाहिये। उन्हे गुजराती की इस उक्ति को समझना चाहिये —

काकरे काकरे पाल बधाय।
टीपे टीपे सरोवर भराय।

अर्थात् एक एक ककर के द्वारा सरोवर की पाल बनाई जा सकती है और जल की एक-एक बूंद से उसे भरा भी जा सकता है।

मनुष्य अगर सही मार्ग पर चलने की गुरुग्रान करे तो कभी-न-कभी वह अपने लक्ष्य को अवश्य प्राप्त कर सकता है। हम अगर उत्कट साधना,

उग्र तपस्या तथा इन्द्रियो पर पूर्ण नियन्त्रण नही कर सकते तो भी इतना तो अवश्य कर सकते है कि अपनी कषायो को कम करे। ईर्ष्या, द्वेष तथा वैमनस्य का कुछ अशो मे त्याग करे। अपने द्वारा किसी भी अन्य प्राणी को दुख न दे। किसी को मारणातिक कष्ट न पहुँचाएँ।

कदाचित् भूल से किसी व्यक्ति को हमारे द्वारा कष्ट पहुँचा हो, किसी के प्रति अनुचित व्यवहार हो गया हो या किसी प्राणी की हिसा भी हो गई हो तो उसके लिये हार्दिक पश्चात्ताप करे और भविष्य मे वह भूल पुन न हो उसके लिये कटिबद्ध होकर प्रयास करे।

इसी दृष्टि से अभी हमने जिस चौभगी का विवेचन किया है उसके आगे भी एक चौभगी का निर्माण किया गया है। उसे समझना तथा उसके अनुसार प्रयत्न करना प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। सूत्र इस प्रकार है —

'चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तजहा - आयतमे नामेगे णो परतमे, परंतमे नामेगे णो आयतमे, एगे आयतमे वि परतमे वि, एगे णो आयतमे णो परतमे।"

अर्थात् पुरुष चार प्रकार के होते है। प्रथम वे जो अपना अन्त करते हैं अर्थात् आत्मघाती होते हैं किन्तु परघाती नही होते। दूसरे प्रकार के वे है जो परघाती होते है आत्मघाती नही। तीसरे प्रकार के पुरुष अपना भी घात करते हैं और दूसरो का भी। इसके विपरीत चौथे प्रकार के पुरुष न अपना घात करते हैं और न पर का।

इन चारो प्रकार के पुरुषो के विषय मे कुछ विस्तृत रूप से समझने की आवश्यकता है। चौभगी मे जिस प्रकार का प्रथम पुरुष बताया है वह स्वय कष्ट सहन कर लेता है किन्तु औरो को कष्ट नही पहुँचाता। गाँव के मुखिया, देश के नेता और धर्मगुरु आदि स्वय कष्ट उठाते है किन्तु अपने गाँव देश या धर्म पर आँच न आए इसका प्रयत्न करते है।

अनेक बार दो राजा आपस मे ही द्वन्द्व युद्ध करते है ताकि वे स्वयं भले ही मृत्यु को प्राप्त हो जायँ किन्तु उनकी प्रजा और शत्रु की प्रजा के भी निरपराध व्यक्तियो का खून-खच्चर न हो। गाधीजी ने भारत को गुलामी से मुक्त करने का अथक प्रयत्न जीवन भर किया। समस्त भारतवासियो को भी उन्होने प्रेरणा दी कि स्वय कष्ट सहन करके आजादी लो, हिंसात्मक कार्य-

वाही के द्वारा नही। और इसीलिये "चौराचौरी" स्थान पर उत्तेजित जनता के द्वारा पुलिस चौकी को जला डालने का तथा उसके अधिकारियो की हत्या करने का समाचार मिलते ही उन्होने सम्पूर्ण भारत मे चल रहे आदोलन को एकदम रोक दिया। गाधीजी ने स्वय अनेक कष्ट सहन किये तथा अपने प्राणो की तनिक भी परवाह किये बिना लगातार कई-कई दिनो तक उपवास भी किये। किन्तु कभी अग्रेज सरकार के किसी अधिकारी को भी तकलीफ पहुँचाने की अथवा उसका घात करने या कराने की भावना उनके हृदय मे नही आई।

आजकल भी गोवध की समाप्ति के लिये आन्दोलन चल रहा है। गो-हिंसा न हो, इसके उद्देश्य के लिये अनेक पुरुष अनशन कर रहे है। अपने प्राणो की ममता छोडकर ही वे इस व्रत को अपनाते हैं।

कहने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य की तो बात क्या पशु को भी कष्ट न हो, इसके लिये भी महान् आत्माएँ अपने शरीर को त्याग देने के लिये तत्पर रहती है।

मुनि गजसुकुमाल के मस्तक पर उनके श्वसुर सोमिल ने अगारे रख दिये। अल्पसमय मे ही मस्तक की हड्डियाँ चटक-चटक कर फट गईं किन्तु मुनि ने अपने प्राणो की परवाह नही की और न ही अपने ससुर के प्रति बदला लेने की भावना उनमे आई। राजा मेघरथ ने एक कबूतर के प्राण बचाने के लिये अपना सम्पूर्ण शरीर ही शिकारी को समर्पित कर दिया।

ऐसे व्यक्ति होते है जो आत्मघात हो जाने पर भी दूसरो को खेद नही पहुँचाते।

चौभगी मे दूसरे प्रकार के पुरुष वे बताए गए हैं जो स्वय अपने को तनिक भी कष्ट पहुँचाना नही चाहते पर दूसरो को कष्ट पहुँचाने मे तत्पर रहते है। ऐसे व्यक्ति महास्वार्थी और क्रूर होते है। अपने स्वार्थ-साधन के लिये वे दूसरो का घात करने से भी नही चूकते।

स्वार्थ के मूल मे लोभ की प्रबल भावना होती है। लोभ को शान्त करने के लिये जैसे-जैसे परिग्रह का सचय होता है, वैसे-वैसे ही स्वार्थ की भावना बलवती होती जाती है। स्वार्थी पुरुष सदा यही सोचा करता है—मेरे भडार भरे रहे, भले औरो के उदर भी खाली रहे। स्वार्थ का अन्त नही आता क्योकि लोभ और तृष्णा का कभी अन्त नही होता। उत्तराध्ययन सूत्र मे लोभ का बड़ा सुन्दर चित्र खीचा गया है —

सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥

अर्थात् कैलाश पर्वत के समान विशालकाय सोने-चादी के असख्यात पर्वत भी क्यो न हो, लोभी मनुष्य का उनसे मन नही भरता, क्योकि आकाश की तरह इच्छा का कही अन्त नही है।

लोभी मनुष्य को न तो अपने सम्मान का ध्यान रहता है और न ही दूसरो के सम्मान का। कभी-कभी तो लोभवृत्ति इतना भयकर रूप धारण कर लेती है कि उसके कारण मनुष्य घृणित और नीच-से-नीच कृत्य करने को भी तत्पर हो जाता है, यहाँ तक कि हत्याए भी कर डालता है। अगर हम इतिहास उठाकर देखें तो अनेको घटनाएँ हमारे सामने आ जाएगी, जिनमे पुत्र ने पिता को, भाई ने भाई को अथवा अपने बहन-बहनोई को लोभान्ध होकर मार डाला। इसीलिये कहा गया है —

मातर पितर पुत्र, भ्रातर वा सुहृत्तमम्।
लोभाविष्टो नरो हन्ति, स्वामिन वा सहोदरम् ॥

लोभी व्यक्ति माता, पिता, पुत्र, भाई स्वामी और मित्र आदि किसी को भी मार डालता है।

क्रोध परघात का दूसरा कारण होता है। क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्य मे उचित-अनुचित का विवेक नही रहता और वह फौरन मरने-मारने के लिये तैयार हो जाता है। उसे कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का भान नही रहता। तभी कहा गया है—

"Anger blows out the lamp of the mind, and when passion is on the throne reason is out of the door."

अर्थात् क्रोध मन का दीपक बुझा देता है। और उसके सिंहासनासीन होते ही बुद्धि वहाँ से खिसक जाती है।

परघाती व्यक्ति अपने जन्म-मरण का अन्त नही कर पाते। किसी भी प्राणी को दुःख पहुँचाना ही महापाप है, फिर उसका वध करना तो कितने

भव भ्रमण का कारण होगा, इसका अदाज भी नहीं लगाया जा सकता। इसीलिये जैनशास्त्रो मे अहिंसा के समर्थन मे बडी ही सबल युक्तियाँ दी गई है। कहा है --

सव्वे जीवावि इच्छति,
जीविउ न मरिज्जिउ।
तम्हा पाणिवह घोर,
निग्गथा वज्जयति ण।

अर्थात् ससार के सभी जीव, चाहे दरिद्र हो, रोगी हो, दु खी हो या किसी भी अवस्था मे हो जीवित रहना चाहते है। सभी को वध अप्रिय होता है। इसी कारण जैनमुनि महाभयावह हिसा का सर्वथा त्याग करते है। प्रत्येक मनुष्य को विशेषत साधक को जहाँ तक बन सके हिसा का त्याग करना ही चाहिये।

जो व्यक्ति दूसरे जीवो का घात करता है वह कभी भी सत्पुरुष नही कहा जा सकता। कसाई सर्वदा दुनिया की दृष्टि मे अत्यन्त निकृष्ट प्राणी गिना जाता है।

तीसरे प्रकार के पुरुष वे होते है जो अपना भी घात करते हैं और दूसरो का भी। जैसा कि मैंने अभी बताया था, क्रोध के वशीभूत होकर पुरुष मरने व मारने को तैयार हो जाते है। क्रोध की उत्तेजना मे मनुष्य किसी की हत्या कर डालता है और फिर उसके परिणामस्वरूप मिलनेवाली सजा भुगतने के डर से स्वय भी आत्महत्या कर लेता है।

अनेक बार अति दरिद्रता के कारण तथा भरपेट अन्न भी न जुटने के कारण मनुष्य अपनी तथा अपने बच्चो की भी हत्या करके उस दरिद्रता से पिड छुडाने का प्रयत्न करते हैं। राजपूत जाति के इतिहास मे तो अनेको उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि तनिक-सी बात पर दो व्यक्ति आपस मे कट मरे।

ऐसे व्यक्ति स्वय भी कष्ट पाते है तथा औरो को भी कष्ट देते है। अत्यत क्रोधी, लोभी और स्वार्थी व्यक्तियो के हृदय मे करुणा नही होती और वे दूसरो को दु ख पहुँचाते है तथा स्वय भी दु खी होते है। कषायो की तीव्रता मे मनुष्य बेईमान बन जाता है और स्व तथा पर का भेद भूलकर स्वय दु ख पाता हुआ दूसरो को भी दुखी करता है। ऐसा व्यक्ति न इहलोक मे ही सुख

प्राप्त करता है और न ही परलोक मे सुख की आशा कर सकता है। शेख-सादी ने कहा भी है—

खुदां रावर आँ बन्दा, बर-शाइश अस्त।
कि खल्क अज वजूदश दर आसाइश अस्त॥

अर्थात् खुदा उसी पुरुष को कृतकृत्य करेगा जिसके हाथो से किसी भी जीव को हानि नही पहुँचती।

चौथी श्रेणी के पुरुष आदर्श महापुरुष कहलाते है। उनका स्थान सर्वोपरि होता है। वे न दूसरो को कष्ट पहुँचाते है और न स्वय ही खेद का अनुभव करते है। जिसमे कषायो की मदता होती है तथा जिनका मोह क्षीण हो जाता है वही व्यक्ति इस स्थिति मे आ पाता है। ऐसे वीतराग पुरुष ही अपनी भव-परम्परा का अन्त करने मे कभी-न-कभी अवश्य सफल होते है।

मनुष्य मे अगर मनुष्यता जैसी कोई वस्तु है तो वह अहिंसा ही है। अहिंसा मनुष्य की प्रकृति का ही एक अविभाज्य अग है। इसके अभाव मे कोई मनुष्य मनुष्यता का अधिकारी नही हो सकता। न केवल मनुष्य मे बल्कि पशु-पक्षियो मे भी हम अहिंसा की प्रवृत्ति देख सकते है। सिंह को हम सबसे क्रूर तथा हिंसक प्राणी मानते है किन्तु विचार किया जाए तो विदित होता है कि अपनी सतान पर उसका भी कितना प्रेम तथा कितनी दया है! अन्यथा वह अपनी सतान को ही न खा जाता!

अहिंसा के विना विश्व का पल भर भी काम नही चल सकता। उसका अधिक-से-अधिक मात्रा मे पालन करना प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है। प्रत्येक जाति के मनुष्य का कर्त्तव्य है।

कुछ व्यक्ति अहिंसा को जैन-धर्म का ही सिद्धात मानते है। वे भारी भूल करते है। अहिंसा को प्रत्येक धर्म ने अपना अनिवार्य अग माना है। शेख-सादी की एक उक्ति मैने अभी आपको सुनाई थी। ईसाइयो की इजील मे भी कहा है—'Thou shalt nct kıll' यानी तू किसी का वध नही करेगा।

इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी धर्मों के ग्रथ हिंसा को वर्जित करते हैं तथा परघात को त्याज्य मानते है।

वधुओ! आज आपने स्थानाग सूत्र की दो चौभगियो के द्वारा समझ

लिया होगा कि कैसे पुरुष अपनी भव-परम्परा का अन्त कर सकते है और दूसरो को भी भव-सागर से पार उतार सकते है। वही दिव्य आत्माएँ और साधक अपने जन्म-मरण का अन्त कर सकते हैं जो स्वप्न मे भी दूसरो को कष्ट नही पहुँचाते तथा अहिंसा का पालन करते हुए आत्म-घात अथवा पर-घात दोनो को त्याज्य मानते है।

हिंसा का अर्थ किसी के प्राण लेना ही नही है अपितु किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट पहुंचाना भी हिंसा है। किसी के प्रति मन मे दुर्भाव आना, किसी को कष्ट पहुंचाने का विचार उत्पन्न होना भी हिंसा है। जितना कषायभाव है, सब हिंसा ही है। उस सबका त्याग करना अहिंसा है।

चौभगी मे चार प्रकार के पुरुष बताए गए है। आपको देखना है कि आप उनमे से किस श्रेणी मे है ? आप जिस श्रेणी को उपयुक्त समझते है, अगर उसमे नही हैं तो उसमे पहुँचने का प्रयत्न करना आवश्यक है। अन्यथा प्रवचन सुनना कोई अर्थ नही रखेगा। जो भी बात सुनी जाए, उस पर चिन्तन और मनन करना तथा यथाशक्य उसपर अमल करना ही उन्नति का चिह्न होता है।

आज के ससार की स्थिति अत्यत विषम एव चिंतनीय है। सिर्फ साधको को ही नही अपितु समाज और देश के नेताओ को भी विस्तृत रूप से विचार करते हुए अपने कदम उठाने चाहिये। क्योकि लाखो-करोडो व्यक्तियो के जीवन उनके इगित मात्र पर खत्म हो जाते है।

मनुष्य का आदर्श ऐसा होना चाहिये कि वह भूलकर भी कभी सत्ता तथा सम्पत्ति के सामने मस्तक न झुकाए। उसे स्वार्थ का पुजारी नही बनना चाहिये, अहिंसा का पुजारी बनना चाहिये। स्वार्थ मे सिद्धि नही, उससे सतुष्टि नही होती। किसी ने कितना सुन्दर कहा है—

"Self love is a pot without any bottom you might pour all the great lakes into it but never fill it up"

स्वार्थ एक फूटे हुए घडे के समान है, जिसमे आप सागर के सागर क्यो न उडेल दें फिर भी वह कभी भरा नही जा सकता।

युग परिवर्त्तनशील है। अगर हम स्वय नही बदलेंगे तो जमाना हमे

बदल देगा। लेकिन उस बदलने मे अन्तर इतना होगा जितना बीमार बनकर सोने मे और थककर सोने मे होता है।

सच्चा साधक या महापुरुष वही कहला सकता है जो दूसरो के दुःख को अपना दु ख मानता है। दूसरो की विपदाओ को अपनी विपदा समझता है। और दूसरो के घात को अपने मर्मान्तिक दु ख का कारण मानता है। अनेक वर्षों तक तपस्या करके देह को सुखाने की अपेक्षा एक प्राणी के जीवन का रक्षण करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिसके हृदय मे ऐसी भावनाएँ है वह स्वय अपना तथा औरो का कल्याण कर सकता है तथा अनन्त सुख का स्वामी बन सकता है। ऐसा दिव्यात्मा पुरुष ही अपने जन्म-जन्मातरो का क्रम रोककर भव-भ्रमण से छुटकारा पा सकता है।

[१०]

आत्म-दमन : एक अद्भुत शक्ति

गेहूँ का एक दाना भूमि मे बोया जाता है। उस छोटे-से दाने से एक एक पौधा अकुरित होता है। उस एक पौधे मे अनेको गेहूँ के दाने पड जाते है। ठीक इसी प्रकार हमारी एक अशुभ भावना अनेको अशुभ भावनाओ को और शुभ भावना अनेको शुभ भावनाओ को जन्म देती है।

शास्त्रो का विधान है कि जीव एक समय जितने सूक्ष्मतम भाग मे ही अनन्तानन्त कर्म-पुदगलो का वध कर लेता है। अगर भावना शुभ होती है तो शुभ परमाणुओ का और, अगर अशुभ हुई तो अशुभ परमाणुओ का वध होता है। इन शुभ तथा अशुभ भावनाओ की उत्पत्ति का स्थान हमारा मन ही है।

जवतक हमारे मन मे मलिन भावनाएँ भरी रहती हैं, मन अनेको प्रकार की कामनाओ से आकुल व्याकुल रहता है। अनेको प्रकार की आशकाएँ, भय तथा सदेह मन को व्यथित करते रहते हैं। छोटी-से-छोटी वात या घटना हृदय मे क्रोध को उत्पत्ति कर देती है। आवश्यकता से वहुत अधिक सम्पत्ति मिल जाने पर भी और अधिक पाने की तृष्णा नही मिटती। लोभ वना ही रहता है। साथ ही अभिमान की मदिरा भी अपना प्रभाव वनाए रहती है और हित तथा अहित का विवेक नष्ट कर देती है। औरो की उन्नति देखकर हृदय पर साप लोट जाता है। ईर्ष्या से जल उठते है। दूसरो के अच्छे से अच्छे कार्य मे भी दोष दिखाई देते हैं।

जव हृदय की ऐसी स्थिति होती है तव समझना चाहिए कि हमारे हृदय मे अशुभ भावनाओ का विप-वृक्ष फल-फूल रहा है और कल्याण की कोई सभावना नही है।

उन अशुभ भावनाओ को शुभ रूप मे परिणत करने के लिये और उन्हे पूर्ण विशुद्ध रूप मे लाने के लिए मन को साधने की आवश्यकता होती है।

कोई भी साधक व्रत, उपवास, तपश्चर्या आदि जो कुछ भी करता है

मन को साधने के लिये ही करता है। इन्द्रिय-निग्रह करने का प्रधान उद्देश्य मन का निग्रह करना होता है। मन इन्द्रियो का स्वामी है अत उसे वश मे कर लिया जाय तो इन्द्रियाँ अनायास ही वश मे हो जाती है। मन पर विजय पाना ही आत्मविजय है। शास्त्र मे कहा गया है —

एगे जिए जिया पंच, पच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताण, सव्वसत्तु जिणामहं ॥

अर्थात् एक मन को जीत लेने पर पाँच इन्द्रियो को जीत लिया जाता है और पाँच (इन्द्रियो) को जीत लेने पर दस--मन, पाँच इन्द्रियाँ, चार (कषाय) जीत लिये जाते है। इन दसो को जिसने जीत लिया, उसने सभी आत्मिक शत्रुओ को जीत लिया।

साधना का उद्देश्य मन व इन्द्रियो को वश मे करना है और इसीलिये साधक अनेक प्रकार के उपाय करता है। पर वह कोई भी साधन क्यो न अपनाए, सर्वप्रथम उसको दृढ वनने की आवश्यकता है। अपने को सुदृढ वनाए बिना न वह तपश्चर्या का मार्ग ग्रहण कर सकता है और न ही ज्ञान का।

मन सुदृढ होने पर ही विभिन्न प्रकार के कष्ट, उपसर्ग और परीषहो के समय वह स्थिर रह सकेगा। शास्त्रो मे हम अनेक महान् साधको के उदाहरण पाते हैं, जो प्राणान्तकारी उपसर्ग आने पर भी पर्वतवत् अडोल वने रहे।

साधक को भली भाति समझ लेना चाहिए कि मन की दौड का कोई ठिकाना नही है। उसकी चपलता असाधारण है। कहा भी गया है—

कबहूँ मन गगना चढै, कबहूँ गिरे पताल।
कबहूँ चुपके बैठता, कबहूँ जावै चाल ॥

अपनी ऐसी स्थिति के कारण ही वह आधे क्षण मे सातवे नरक मे तथा आधे क्षण मे ही मोक्ष मे भी पहुँच सकता है।

इस कथन की पुष्टि राजर्षि प्रसन्नचन्द्र के उदाहरण से होती है। एक बार राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जा रहे थे। मार्ग मे उन्होने राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को ध्यान मे मग्न देखा। जब वे भगवान् के समक्ष पहुँचे तो उन्होने भगवान् से प्रश्न किया --भगवन्! राजर्षि प्रसन्नचन्द्र प्रगाढ ध्यान मे मग्न है। अगर इस समय वे देहत्याग करे तो किस गति मे जाएँ?

भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—सातवें नरक मे।

श्रेणिक चकित रह गए। उन्होने पूछा—भगवन्! ऐसे उत्कृष्ट योगी, और ध्यानी सातवें नरक में क्यो जाएँगे?

उत्तर मे भगवान् ने कहा—अब उनके मन की भावना बदल गई है। इस समय अगर वे शरीर त्याग करें तो सर्वार्थसिद्ध विमान मे उत्पन्न होगे।

राजा श्रेणिक चक्कर मे पड गए और विनम्र भाव से पूछने लगे—प्रभो! अभी अभी तो वह सबसे निकृष्ट नरक मे जाने योग्य थे और अभी-अभी सर्वोत्कृष्ट स्वर्ग मे जाने योग्य हो गए। क्षण भर मे ही इतना महान् परिवर्तन कैसे हो गया? इसका कारण क्या है?

श्रेणिक यह पूछ ही रहे थे कि उसी समय देव-दुन्दुभि बज उठी। राजा ने पूछा—भगवन्! यह देव-दुन्दुभि कहाँ और क्यो बजी?

भगवान् ने उत्तर दिया—प्रसन्नचन्द्र राजर्षि केवल ज्ञानी हो गए है।

श्रेणिक विस्मय से हतबुद्ध-से रह गए पर उन्हे भगवान् के वचनो पर अटूट श्रद्धा थी अत उन्होंने पुन निवेदन किया—प्रभो, मै अज्ञानी हू। आपके कथन के मर्म को समझ नही सका। कृपा करके मुझे विस्तारपूर्वक समझाइये।

भगवान् महावीर ने तब उन्हे बताया—ऋषि प्रसन्नचन्द्र पोतनपुर के राजा थे। उनके हृदय मे वैराग्यभावना उदित हुई और वे अपने बालक को अपने कार्यकर्त्ताओ के भरोसे छोडकर दीक्षित हो गए। उन्होंने दृढ भावना से सयम ग्रहण किया और उत्कट साधना आरभ की। किन्तु तनिक-सा निमित्त पाकर उनकी भावना दूषित हो गई।

भगवान् आगे बोले—श्रेणिक! तुम्हारी सेना के आगे-आगे दो व्यक्ति चल रहे थे। उनमे से एक ने कहा—अहा! यह महात्मा कैसे त्यागी हैं और निश्चल ध्यान मे मग्न है।

दूसरा व्यक्ति बोला—अरे रहने दो। इन्हे मैं अच्छी तरह से जानता हूँ। यह तो महापापी है। अपने नादान बालक को अपने कर्मचारियो के भरोसे घर छोडकर साधु बन गए। अब वे ही कर्मचारी नीयत बिगड जाने के कारण उस बालक को मार डालने का षड्यन्त्र रच रहे है। उसके मर जाने पर यह निपूते हो जाएँगे और मर कर नरक मे जाएँगे।

उन मनुष्यो का वार्तालाप प्रसन्नचन्द्र के कानो मे पड गया। सुनते ही उनकी वैराग्य-भावना बदल गई। वे सोचने लगे—दुष्ट कर्मचारी मेरे बालक को मार डालना चाहते हैं। मैं उन सब को उनकी करनी का फल चखा दूंगा।

यह सोचकर वे मन ही मन अपने शत्रुओ का सहार करने लगे। उसी समय तुमने मुझसे पूछा था कि वे इस समय शरीर त्याग कर किस गति मे जाएँ? तुम उन्हे ध्यानमग्न समझ रहे थे और मैं उन्हे शत्रु-सहार मे मग्न देख रहा था। उस समय उनकी मन स्थिति सातवें नरक मे जाने की हो गई थी।

उसके कुछ क्षणो के पश्चात् सहसा प्रसन्नचन्द्र का हाथ क्रोध के आवेश मे अपने मस्तक पर पहुच गया। मस्तक को केश विहीन पाते ही उन्हे एकदम सुध आ गई कि ओह! मैं तो जगत् के जजाल से मुक्त होकर साधु बन चुका हूं, और पूर्ण हिंसा का त्याग कर चुका हूँ। यह विचार आते ही उनके मन की भावना परिवर्तित हो गई और उच्च से उच्चतर बनती हुई चरम सीमा पर जा पहुँची।

भावनाओ मे परिवर्तन होते ही मैंने तुम्हे बताया था कि वे सर्वोत्कृष्ट स्वर्ग मे जाने के अधिकारी बन गए है और उनके चरम सीमा पर पहुँचते ही केवलज्ञानी हो गए।

इस उदाहरण से मन की प्रबलता और चचलता सहज ही समझ मे आ जाती है। कहा सातवाँ नरक और कहाँ सर्वार्थसिद्ध विमान और केवलज्ञान! किन्तु मन का प्रभाव ऐसा ही अद्भुत होता है।

साधना के पथ मे कष्ट सहन करना तो साधक के लिये प्रथम पग है। उसका अभ्यास करने के बाद ही साधना की जा सकती है। भौतिक वस्तुओ की प्राप्ति तो एक मनुष्य दूसरो को कष्ट देकर भी कर सकता है, जैसे कि एक कारखाने का मालिक दूसरे अनेक पुरुषो को कष्ट देकर स्वय गुलछर्रे उडाता है। एक मालिक नौकर से काम लेकर स्वय आराम से जीवन बिताता है। किन्तु साधना के क्षेत्र मे यह नही चल सकता। जिस प्रकार किसी दूसरे के खा लेने पर हमारी भूख नही मिटती उसी प्रकार दूसरो के साधना व तपस्या करने से हमारा कल्याण नही हो सकता। क्या किसी दूसरे के सयमानुष्ठान से हमारी आत्मा का कष्ट दूर होकर जन्म-मरण का चक्कर मिट सकता है? नही। दूसरो के साधना करने से दूसरो का ही कल्याण होगा। अपनी साधना को

सार्थक बनाने के लिये तो हमे स्वय ही मन को साधना पडेगा। स्वय ही अपनी आत्मा का अर्थात् अपना दमन करना पडेगा। अपना दमन करने वाले पुरुषो के भी कई प्रकार होते हैं। एक चौभगी के द्वारा इस विषय को ठीक तरह से समझाया गया है। चौभंगी इस प्रकार है —

'चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तजहा— आयदमे नामेगे नो परदमे, परदमे नामेगे नो आयदमे, एगे आयदमे वि परदमे वि, एगे नो आयदमे नो परदमे।'

अर्थात् कोई पुरुष अपना दमन करता है पर का नही। कोई पर का करता है अपना नही। कोई ऐसा होता है जो अपना तथा पर का दोनो का दमन करता है और कोई ऐसा भी होता है जो न अपना दमन करता है और न पर का ही।

प्रथम श्रेणी मे वह पुरुष आते हैं जो अपना दमन करते है दूसरो का नही। आत्मदमन का अर्थ है अपने मन,वचन तथा काया को अपने वश मे रखना। उन्हे चचल न होने देना तथा अपनी इच्छानुसार निर्बाध कार्य न करने देना।

सर्वप्रथम मन का निरोध करना आवश्यक है। वचन तथा शरीर तो मन के ही अनुगामी होते है। मन ही उन्हे प्रेरणा देता है और चलाता है। जब मन मे कलुषित विचार उत्पन्न हो और वे किसी भी प्रकार के अनर्थ का कारण बनते हो तो उसी समय उस चिन्तन पर रोक लगाना चाहिये। दूसरो की समृद्धि देखकर मन मे ईर्ष्या पैदा हो जाए या छोटे से झगडे के कारण ही वैर बाँध लेने की भावना हो जाए तो उस भावना को मन मे निकाल देना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसी वृत्ति को प्रथम तो उत्पन्न ही न होने दिया जाय और कदा-चित् हो जाए तो उसे दूसरी दशा मे मोड लेना मन का निरोध अथवा दमन कहलाता है।

अगर मन अशुभ और अप्रशस्त भावनाओ का शिकार हो रहा हो, बुरे विचारो की दुर्गन्ध से भरा हुआ हो तो सब यम-नियम व्यर्थ हो जाते है। अशुभ चिन्तन के चलते रहने पर साधना कभी भी शुभ फल नही दे सकती। इसीलिये कहा गया है —

जपो न मुक्तयै न तपो द्विभेद,
न सयमो नापि दमो न मौनम्।

न साधनाद्य पवनादिकस्य,
किं त्वेकमन्त करणं सुदान्तं ।।

अर्थात् न जाप जपने से मोक्ष मिल सकता है, न दो प्रकार की तपस्या करने से। न सयम से मुक्ति हो सकती है और न इन्द्रियो का दमन करने से। योग-साधना से भी मोक्ष नही मिल सकता। मोक्ष प्राप्त करने का असली कारण तो मनोनिग्रह ही है।

हाँ, तो मै यह बता रहा था आपको, कि चौभगी के अनुसार पहले प्रकार के पुरुष सर्वप्रथम अपने मन पर नियत्रण करते है। दूसरो के मन पर अधिकार जमाने मे वे साधना की सफलता नही मानते। इसके अलावा साधारण व्यवहार मे भी पर-दमन नही करते। सज्जन मालिक नौकर-चाकरो पर अथवा मुनीम गुमाश्तो पर अनावश्यक प्रतिवध नही लगाते और न ही उन्हे व्यर्थ अपने वाग्बाणो से बीधते हैं।

साधक को अपने वचनयोग पर भी नियत्रण रखना होता है। अनावश्यक वार्तालाप साधना मे अवरोध उत्पन्न करता है। स्वय अपनी बात कहते जाना और दूसरो के बोलते ही उसको रोकने की चेष्टा करना अनुचित है। उचित यह है कि स्वय अपने वचनो पर ही रोक लगाई जाय ताकि औरो पर प्रतिवध लगाने की आवश्यकता ही न पडे। वाचालता मन को गम्भीर चिन्तन नही करने देती। जब उसमे कटुता आ जाती है तो औरो को दुख होता है। वेदव्यास ने कहा है—'वाणी से भी बाणवृष्टि होती है, जिसपर इसकी बौछारे पडती है, वह दिन-रात दुखी रहता है'।

मनुष्य को चाहिये कि वह अपने वचनो के द्वारा भी पर-दमन न करे। क्योकि वचनो के साथ ही साथ चेष्टा भी उसी प्रकार कार्य करती है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक 'ला रोशो' का कथन है—

'There is no less eloquence in the tone of the voice, in the eyes and in the demeanour, that in the choice of word's;

अर्थात् वक्तृता केवल शब्दो के चुनाव मे ही नही वरन् शब्दो के उच्चारण मे, आँखो मे तथा चेष्टा मे भी होती है।

जैसा कि मैंने अभी कहा, वचनो के साथ-साथ शारीरिक चेष्टा भी

वैसी ही होती है यह हम नित्य प्रति के व्यवहार मे प्रत्यक्ष देखते है। क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्य मारपीट भी करने लगते है। दुर्वचनो की बौछार के साथ-साथ हाथो से प्रहार होना भी शुरू हो जाता है। इसीलिये पर-दमन न करने वाला व्यक्ति अपने ही मन, वचन तथा तन पर नियत्रण रखता है।

हाँ, कभी-कभी हित की भावना मे पर-दमन करना पडता है। माता-पिता सतान को स्वच्छन्द हो जाने से रोकते हैं। गुरु भी अपने शिष्य को ज्ञानाराधना मे प्रमाद अथवा उपेक्षा करते हुए देखकर ताडना देते है तथा अन्य प्रकार के तपश्चर्या सम्बन्धी प्रायश्चित्त करवाते है। बार-बार भूल करने पर उनपर कुछ और कठोर अनुशासन करते है।

किन्तु इन सबके मूल मे माता-पिता अथवा गुरु का कोई स्वार्थ नही होता, क्रूर या कलुषित भाव नही होता, अपितु सतान तथा शिष्य का जीवन-निर्माण ही उनका लक्ष्य होता है। ऐसे दमन से अनिष्ट की सभावना नही होती। कर्मबध का कारण तो कषायो के तथा स्वार्थ के वश मे होकर पर-दमन करने मे होता है।

दूसरे प्रकार के मनुष्य वे होते है जो अपना दमन नही करते सिर्फ पर-दमन मे तत्पर रहते है। ऐसे व्यक्ति महास्वार्थी होते है। पर-दमन मे उनका उद्देश्य किसी का कल्याण नही होता वरन् अपना उल्लू सीधा करना होता है। स्वार्थी तथा कपटी व्यक्ति सरल प्रकृति के उद्योगी व्यक्तियो के श्रमफल का अपहरण करते रहते है।

पुराने समय मे दासप्रथा पर-दमन को भयकर रूप से प्रोत्साहन देती थी। गुलामो को अन्याय तथा अत्याचार सहते हुए सिर्फ मालिको की सेवा करने का अधिकार था। अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए जबान खोलने का भी अधिकार उन्हे नही होता था। उनके स्वामी अपने को तनिक भी कष्ट दिये बिना निस्सकोच अपने दासो पर अत्याचार करते रहते थे। तभी तो आज हम एक स्वर से कहते हैं—

'Slavery was the system of the most complete injustice'

गुलामी पूर्ण अन्याय की व्यवस्था थी।

यह दुनिया का सबसे बडा और घृणित पाप था। क्रीत-दासो को

मरणातिक कष्ट देने से भी कोई रोक नही सकता था। तनिक-सी भूलपर भी मार-मार कर उनकी चमडी तक उधेड दी जाती थी। आज तो व्यवस्था बदल चुकी है। मनुष्यो मे स्वाभिमान की मात्रा अपने सही रूप मे पैदा हो चुकी है और इसीलिये नृशंसतापूर्वक पर-दमन करना उतना सभव नही रहा। फिर भी इसका अस्तित्व मिट नही गया है और आए दिन हम देखते है कि मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये नाना प्रकार से दूसरो को कष्ट देते है, वध तक कर डालते है, और अपने को तनिक भी कष्ट न हो, ऐसा प्रयास करते है। जो व्यक्ति अपना दमन नही करते और सदा दूसरो के दमन मे तत्पर रहते है उनके लिये भगवान् का कथन है कि उन्हे पशु बनकर और पराधीन होकर दमन सहना पडेगा।

तीसरी श्रेणी के पुरुष वे हैं—जो अपना भी दमन करते है और पर का भी। जैसा कि मैंने अभी बताया था, गुरु शिष्य के हित-चिन्तन की दृष्टि से शिष्य को नियत्रण मे रखते है। अवसर होने पर ताडना देते है व दड भी देते है पर साथ ही उन्हे अपना भी दमन करना होता है। अपने को अंकुश मे रखे बिना शिष्य पर अनुशासन कदापि नही रह सकता। माता-पिता अगर स्वय स्वच्छद रहे और सन्तान पर अकुश रखना चाहे तो उन्हे सफलता मिलना असभव है। किसी को ज्ञानवान् बनाने के लिये प्रथम स्वय को ज्ञान प्राप्त करना जितना आवश्यक है, उतना ही औरो को त्यागी बनाने से पहले स्वय त्याग करने की आवश्यकता है। उपदेश देनेवाले को पहले आदर्श उपस्थित करना चाहिये। ऐसा करनेवाला व्यक्ति ही आत्म-दमन मे तथा पर-दमन मे भी सफल हो सकता है।

बधुओ ! आपको यह समझना है कि आत्म-दमन तथा पर-दमन सही उद्देश्य के लिये, और सही तरीके से किया जाए तो कर्म-नाश मे सहायक बनता है और गलत उद्देश्य के लिये, गलत तरीके से करने पर कर्म-बध का कारण। क्रोधावेश मे दूसरे का सिर फोडकर फिर अपने मस्तक को धुनना या दूसरे का वध करके स्वय भी मर जाना महापातक है और जन्म-मरण के चक्करो में वृद्धि करने वाला है। ऐसे व्यक्ति अपना और दूसरो का दमन करके भी किसी पवित्र उद्देश्य की पूर्ति नही कर सकते, न ही अपना या दूसरो का भला कर सकते है।

चौथे प्रकार के मनुष्य न अपना दमन करते है और न पर का। जो स्वय सदा स्वच्छद जीवन बिताते हैं वे दूसरो के जीवन को कैसे सुसस्कृत बना

सकते हैं । उनका अपना जीवन ही प्रमाद और असयम मे बीतता है और जब वह समाप्त होने को होता है तब पश्चात्ताप ही हाथ आता है। उस समय उन्हे कोई सबल नही मिलता जिसे ग्रहण करके वे अपनी जीवन भर की गई भूलो को सुधार सकें। ऐसे मनुष्यो को सावधान करने के लिये कवि ने कहा है—

पायो है मनुष्य-देह अवसर बीत्यो जात,
ऐसी देह बार बार कहो कहाँ पाइये ।
भूलत है बावरे ! तू अब कँ सियानो होय,
रतन अमोल यह काहे को ठगाइये ।।

कितने सही उद्गार है ! कौन जानता है कि आगामी भव मनुष्य का भव ही होगा । खास तौर पर उनका जो इस जीवन को असस्कृत, स्वच्छद तथा विषय-वासनाओ मे लिप्त होकर गुजारते हैं । अधिकाश व्यक्ति सोचते है कि अभी यौवन-अवस्था मे ससार के सुख भोग ले और वृद्धावस्था मे परलोक के लिये पोटली बाँध लेंगे और वृद्धावस्था मे भी अवसर न मिल पाया तो अन्त समय को सुधार कर अच्छी गति प्राप्त कर लेगे।

यह मनुष्य की कितनी भयकर भूल है। अन्त समय मे परलोक सुधार लेगे, इस भ्रममय धारणा से प्रेरित मनुष्य अपने इस जीवन को भी और उस जीवन को भी बिगाड लेना है। उसकी मिथ्या धारणाएँ उसे भयानक धोखा देती है ।

सत्य तो यह है कि जीवन के अन्तिम क्षणो मे वैसी ही भावनाएँ उत्पन्न होती है जैसी गति मे उसे जाना होता है। जिस जीव ने अपने जीवन-काल मे नरकायु का बन्ध कर लिया है, वह लाख प्रयत्न करने पर नरक जाने से नही बच सकता। भगवान् महावीर के द्वारा जब श्रेणिक राजा को पता चला कि वह नरकायु का बध कर चुके हैं तो उन्होने उसे मिटाने के अनेक प्रयत्न किये पर सफल नही हो सके। अत मे उन्हे नरक मे जाना ही पडा ।

कहने का अभिप्राय यही है कि अन्त समय मे वैसी ही मति हो जाती है, जैसा आयु कर्म जीवन मे बध चुका होता है। इसलिये अन्त समय के भरोसे मे मनुष्य को अपना सम्पूर्ण जीवन अनियन्त्रित और विषय-भोगो मे रत रहकर नही बिताना चाहिये । इसके विपरीत, अपना जीवन मन पर नियत्रण

रखते हुए तथा इन्द्रियो का दमन करते हुए सत्कार्य मे बिताना चाहिये। की हुई साधना तथा सुकर्म ही आगामी भव मे फल देते है। कहा भी है—

"A good action is never lost; it is a treasure laid up and guarded for the doer's need."

—कालरेज

अर्थात् सुकर्म कभी नष्ट नही होता, यह निधि कर्त्ता की आवश्यकता के लिये सुरक्षित रखी रहती है।

कहने का तात्पर्य यही है कि अनेक व्यक्ति अपना जीवन अपने मन व इन्द्रियो का दमन किये बिना बिताते है। वे न अपने लिये कुछ कर सकते है और न दूसरो के लिये। न वे आत्म-दमन कर सकते है और न ही पर-दमन। किन्तु जब वे अपने मन को ही वश मे नही रख सकेंगे तो औरो को मन पर नियन्त्रण रखने का उपदेश कैसे देगे ? और देने पर उनकी बात मानेगा भी कौन ? परिणाम यही होगा कि जीवन के अमूल्य क्षण बीत जाएँगे और जीव चौरासी के चक्कर मे घूमता रहेगा।

सच्चे साधक के लिये आत्म-दमन की अत्यत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। अब हम 'दमन' शब्द पर कुछ विस्तृत विचार करेंगे। दमन तीन प्रकार से होता है। (१) शम, (२) दम तथा (३) उपशम।

शम का अर्थ है कषायो का शमन करना। सबको समभाव से देखना। जिसके हृदय मे कषायो की आग शात हो जाती है वह शत्रु व मित्र दोनो को ही समान दृष्टि से देखता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हम अपनी दोनों आँखो पर एक-सा भाव रखते हैं। कभी भी हमारे हृदय मे यह भावना नही आती कि हम सुरमा या काजल एक आँख मे लगा लें, दूसरी मे नही, या एक आँख मे अधिक लगा ले और दूसरी मे कम।

साधक के जीवन मे जब समभाव आ जाता है, तभी उसकी साधना सही मार्ग पर चलती है, ऐसा मानना चाहिये। साम्यभाव को अपनाने वाले व्यक्ति के लिये समग्र विश्व के प्राणी मित्र होते हैं। अर्थात् वह सभी को अपना मित्र मानता है।

कुछ समय पहले भारतीय संसद् के सदस्य डी० सी० शर्मा रूस गए। अनेक पत्रकार उनके पास आए और पूछने लगे—शर्मा साहब, आपको क्या

रूसी लोग पसद है ?

शर्माजी ने उत्तर दिया—नही। फिर पूछा गया—तो अमरीकन पसद हैं ? उत्तर मे उन्होने फिर कहा—नही।

पत्रकारो ने अंग्रेज, पाकिस्तानी तथा चीनी सभी के लिये पूछ लिया किन्तु शर्माजी ने उत्तर नकारात्मक ही दिया। अत मे उनसे यह पूछा गया—तो आप किनको पसंद करते है ? शर्माजी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—मित्रो को। चाहे वह रूसी हो, अमेरिकन हो, चीनी हो या पाकिस्तानी हो।

हमारा सिद्धात यही तो कहता है—मित्ती मे सव्व भूएसु, यानी ससार के समस्त प्राणियो से मेरा मैत्रीभाव रहे। 'युगवीरजी' की कितनी सुन्दर भावना है—

साम्यभाव रक्खूं मै सब पर,
ऐसी परिणति हो जावे।

शम अर्थात् सम-भाव के पश्चात् हम 'दम' को लेते है। प्रश्न उठता है दमन किसका करना चाहिये ? भगवान् महावीर ने कहा है—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १–१५

अर्थात् दमन करना है तो अपनी आत्मा का दमन करो। आत्मा का दमन करनेवाला व्यक्ति इस लोक तथा परलोक दोनो मे सुखी रहता है।

आत्मा का दमन सयम तथा तप के द्वारा करना चाहिये। मन को आकर्षित करनेवाली ससार मे अनेकानेक वस्तुएँ है पर उनकी ओर आकर्षित न होना तथा इन्द्रियो को अपनी इच्छानुसार न करने देना ही सयम है। अनासक्त व्यक्ति के सामने संसार का समस्त वैभव आ जाए तो भी वह उनकी ओर आकर्षित नही होता। एक कथानक है—

वैष्णव सम्प्रदाय मे राका तथा वाका नाम की दो सत-आत्माएं थी। दोनो पति-पत्नी थे, वे रोज जगल मे जाकर लकडियाँ काटते और उन्हे बेचकर अपना निर्वाह करते थे।

कहते हैं कि एक बार विष्णु और लक्ष्मी उधर से निकले। वृद्ध दपती

को लकडियाँ काटते देखकर लक्ष्मी बोली—भगवान् ! आपके राज्य मे इतना अंधेर है ? इतने वृद्ध होने पर भी लकडियाँ काट रहे है। इन्हे सुखी करिये।

विष्णु ने कहा—देवी ! इनके लिये कुछ भी किया जाय, ये कभी स्वीकार नही करेंगे।

किन्तु लक्ष्मी मानी नही, जिद कर बैठी। हारकर विष्णु ने कहा—ठीक है, प्रयत्न करता हूँ।

विष्णु ने राका तथा बाका के जगल से लौटते समय ग्यारह मोहरें रास्ते मे डाल दी। राका आगे-आगे चल रहा था। उसने मोहरे देखी पर उन्हे उठाने की तो क्या छूने की भी इच्छा नही की। उलटे थोडी-सी रेत उन मोहरो पर डाल दी। यह सोचकर कि बाका स्त्री ठहरी, शायद उसके मन मे प्रलोभन आ जाए। और वह उठा ले।

पीछे-पीछे बाका भी आई। पति को मोहरो पर रेत डालकर जाते हुए देखकर बोली—वाह ! इतने वर्ष हमे सयम का पालन करते हो गए, फिर भी आपने आज रेत को रेत से ढँका है। इसका तो यह मतलब हुआ कि आप अभी तक सोने को सोना ही समझते है। अन्यथा इस पर रेत डालने की क्या आवश्यकता थी।

राका अपनी भूल महसूस करता हुआ तथा पत्नी के मनोभावो पर गर्व करता हुआ घर की ओर चलने लगा।

दूसरे दिन फिर लक्ष्मी के आग्रह से विष्णु ने वृद्ध दम्पती के कष्ट को कम करने के लिये जगल मे कटी हुई लकडियो के कई ढेर लगा दिये।

धीरे-धीरे राका व बाका उधर पहुँचे। उन्होने कटी हुई लकडियाँ देखी किन्तु उन्हे उठाया नही और स्वय ही लकडियाँ काटने का उपक्रम करने लगे। उन्होने सोचा—ये लकडियाँ बिचारे किसी गरीब ने काटकर इकट्ठी की होगी। अत हम क्यो उसके परिश्रम से पैदा की हुई चीज को ले।

यह देखकर विष्णु ने लक्ष्मी से कहा—देखो, इन्होने न तो धन की वाछा की और न ही किसी दूसरे के परिश्रम पर डाका डाला। कितना दृढ मन है इनका और अपनी इन्द्रियो पर अकुश भी। कितने आनन्दी प्राणी है ये। इसे कहते है मन और इन्द्रियो का दमन करना।

दमन का तीसरा अग है उपशम— अर्थात् शातवृत्ति रखना। ससार मे रहते हुए अनेकानेक जटिल तथा अवाछनीय परिस्थियो का सामना करना पडता है। अनेक प्रकार के संघर्षो से जूझना होता है। फिर भी अपना कर्त्तव्य समझकर कार्य करना और चित्त को शात रखना ही उपशम भाव है। चित्त को शात रखने पर ही मनुष्य कषायो के स्वरूप, स्वभाव तथा परिणाम को समझ सकता है तथा क्षमा भाव धारण कर सकता है।

हृदय मे उपशम भाव रखने वाला व्यक्ति स्वय अपने लिये, परिवार के लिये, पडौसियो के लिये, समाज के लिये तथा देश के लिये भी कभी अशाति का कारण नही बन सकता।

शान्ति मानव जीवन का चरम उद्देश्य है ससार के जितने धर्म-कर्म हम करते हैं, उन सबके पीछे यही लालसा रहती है कि हम शातिपूर्वक जीवन विताएँ। शात वृत्ति की परीक्षा भी ससार के समस्त कर्त्तव्यो का पालन करते हुए होती है, जगल मे जाकर एकाकी जीवन बिताते हुए नही। गाधीजी ने कहा है—

'मनुष्य की शाति की कसौटी समाज मे ही हो सकती है, हिमालय के शिखर पर नही।"

जो मनुष्य अपनी सारी इच्छाओ का त्याग कर देता है एव 'मैं' और मेरेपन के भाव से मुक्त हो जाता है वही शान्ति प्राप्त करता है। और जब अपने भीतर ही शाति का प्रादुर्भाव हो जाता है तो सारा ससार शान्तिमय प्रतीत होता है। तुलसीदासजी ने तो कहा है—

सात द्वीप नव खड लौं, तीनि लोक जग माहि।
तुलसी शाति समान सुख, और दूसरो नाहि॥

शान्ति मनुष्य की सुखद तथा स्वाभाविक स्थिति है 'Peace is happy, natural state of man, war his corruption his disgrace"

—टामसन

अर्थात् शाति ही मनुष्य की सुखप्रद तथा स्वाभाविक दशा है, युद्ध उसका पतन और कलंक है।

भौतिक वस्तुओ की प्राप्ति के लिये आज गृह-कलह और बड़े-बडे युद्ध

भी होते है। किन्तु उन सत्ता, साम्राज्य और सम्पत्ति के लोभियो को कभी शाति व सतोप नसीव नही होता। दूसरो के धन से ईर्ष्या तथा अपने धन से अतृप्ति यह दोनो ही शान्ति के विरोधी है। एक दार्शनिक ने कहा है--

"विपयो का सुख तथा आत्मा की शान्ति इन दोनो मे से किसी एक को हमे चुनना है। अगर ससार मे रहकर आत्मिक शाति प्राप्त करनी है, अगर दिव्य जीवन तक पहुँचाना है, अगर मृत्यु के इस ससार से मुक्त होना है—तो भौतिक जीवन के फलो को नही चखना चाहिये।

—शिलर

कहने का अभिप्राय, बधुओ ! यही है कि आत्म-दमन करने से, अर्थात् मन, वचन तथा तन तीनो को वश मे रखने से शाति प्राप्त होती है और चित्त मे शाति होने पर गम्भीर चिन्तन, मनन साधना तथा तपस्या आदि निर्विघ्न किये जा सकते है। सच्चे साधक शम, दम तथा उपशम के द्वारा अपनी चित्त-वृत्ति को शात व शुद्ध बनाते है।

जो पुरुष मन पर नियत्रण नही करते और इन्द्रियो को इच्छानुसार अपने विषयो की ओर जाने देते है, जो कुकर्म और सुकर्म मे भिन्नता नही कर पाते तथा कषायो पर रोक नही लगा सकते, उन्हे अपने अत-समय मे पश्चात्ताप करना पडता है। वे अपनी आत्मा का कदापि कल्याण नही कर पाते।

इसके विपरीत, जो पुरुष समस्त सासारिक वस्तुओ की तथा अपने शरीर की भी नश्वरता को स्मरण रखते हैं और सोचते है—

जीवन तन मन भवन न रहिहैं, स्वजन प्रान छूटेंगे।
दुनिया के सम्बन्ध विदाई की बेला टूटेंगे॥

वे ही व्यक्ति आत्मिक आनन्द को प्राप्त करते हुए इस मानव-जीवन को सार्थक कर सकते हैं और जन्म-मरण के दुखो से छूटकर शाश्वत सुख के अधिकारी बनत है। उनका आत्म-दमन उनकी आत्मा को परमात्मा बना देता है।

मुक्ति का मूल-गर्हा

मोक्षाभिलाषी साधक अपने साधना-पथ पर तभी निर्विघ्न बढ सकता है जब वह अपनी दुर्बलताओ, दुर्वृत्तियो, दुर्विचारो तथा दुराचारो के प्रति सजग रहे। इनके प्रति निंदा का भाव उसके हृदय मे बना रहे और वह पापो से ऊपर उठने का प्रयत्न करता रहे।

यह सभव नही है कि साधक साधना के कटकाकीर्ण मार्ग पर चलता रहे और उससे कही भी तथा कभी भी त्रुटियाँ न हो। चाहे पचमहाव्रतधारी साधु हो, या श्रावक हो, सामान्य गृहस्थ हो या उससे भी निम्न श्रेणी का व्यक्ति हो, जब तक आत्मा मे मोह तथा कषाय विद्यमान होते हैं, प्राय प्रत्येक मनुष्य भूल कर ही बैठता है। मन की चपलता के कारण न चाहते हुए भी प्राणी मन से, वचन से अथवा तन से गिर जाता है।

साधक के द्वारा भूलो का होना उसके एकान्तत पतन का चिह्न नही है। सच्चे साधक को एक भूल हो जाने का दुख भविष्य मे भूलें न होने देने के लिये कटिबद्ध बनाता है। यहा तक कहा गया है कि —

'No man ever become great or good except through many mistakes'

—ग्लेडस्टन

अर्थात् बहुत-सी तथा बडी-बडी गलतिया किये बिना कोई मनुष्य बडा और महान् नही बन सकता।

तात्पर्य यही है कि भूल हो जाना पाप नही है। वास्तव मे पाप तो भूल करना एव उसे छिपाने का यत्न करना है। अगर कोई व्यक्ति अपनी गलती को समझकर भी उसका प्रतीकार करना नही चाहता या उसकी उपेक्षा करता है तो समझना चाहिये कि वह साधना-पथ से विचलित हो रहा है।

प्रत्येक साधक को अपने पापो के प्रति गर्हा का भाव रखना चाहिये।

स्थानाग सूत्र मे गर्हा को लेकर एक चौभगी का निर्माण किया गया है। उसमे बताया गया है कि जो भी व्यक्ति अपने पापो को बुरा समझेगा वह शनै -शनै. अवश्य ही पापो से दूर होता जाएगा।

प्रश्न उठता है कि गर्हा क्या है ? गर्हा का अर्थ है पूर्ण निष्कपट-भाव से शिशु की तरह अपने पापो को और कुकृत्यो को गुरु के सन्मुख प्रकाशित कर देना। अगर ऐसा न किया जाए और उन्हे छिपाने का प्रयत्न किया जाए तो आत्मा दूषित हो जाती है और साधना सिर्फ दिखावा मात्र ही रह जाती है। भगवान् महावीर ने आलोचना को आत्मसुधार के लिये अत्यन्त कल्याणकारी बताया है—

कयपावो हि मणुस्सो, आलोइयं निन्दियं गुरु सगासे।
होइ अइरेग लहुओ, ओहरियभरो व्व भारवहो॥

—समाधिमरण प्रकीर्णक, १०२

अर्थात् जैसे भार वहन करने वाला अपना भार उतारकर अत्यन्त हलकापन महसूस करता है, इसी प्रकार साधक पुरुष भी गुरु के समक्ष अपने दुष्ट कृत्यो की आलोचना एव निन्दा करके पाप से हलका हो जाता है।

कुछ व्यक्ति सोचते है कि विगत के लिये पश्चात्ताप करने से कोई लाभ नही। इतना ही नही, उनके मतानुसार तो पश्चात्ताप करना अपनी आत्मा को गिराना है। कितने अज्ञानी हैं ऐसे व्यक्ति ? ऐसा वही व्यक्ति कहते है जिनकी दृष्टि दूषित होती है, और जिनके सामने कोई महान् लक्ष्य नही होता और जिन्हे आत्मशुद्धि की महत्ता का ज्ञान नही होता।

पाश्चात्ताप तो हृदय मे प्रज्वलित की गई वह ज्वाला है जिसमे कृत पाप भस्म हो जाते है। एक विद्वान् ने कहा है—

'Confess thy guilts and sins, thus shalt thou get light'

अर्थात् अपने दोषो और पापो को प्रकट करो, इससे तुम्हे प्रकाश की प्राप्ति होगी।

जीवन के अन्त मे घोर तथा निरर्थक पश्चात्ताप न करना पडे, इसलिये आवश्यक है कि मनुष्य अपने कृत अपराधो के लिये उसी समय पश्चात्ताप कर ले और सकल्प कर ले कि आगे से मै इसकी पुनरावृत्ति नही करूँगा।

पापो को हृदय मे दबाए रखने का प्रयास करना बडा भारी दोप है। इससे साधना दूषित हो जाती है। दुष्प्रवृत्तिया शरीर मे सचित विकार के समान होती है। विकारो को शरीर से वाहर न निकाला जाए तो वे धीरे-धीरे शरीर को रुग्ण व निस्तेज बना देते है। उसी प्रकार अगर पाप-वृत्तियो को पश्चात्ताप के द्वारा बाहर न निकाला जाए तो आत्मा की पवित्रता कलुपित हो जाती है और साधना के समाप्त होने की नौबत आ जाती है। सयम खतरे मे पड जाता है। जिस प्रकार अग्नि की एक छोटी-सी चिनगारी सारे नगर को भस्म कर देती है उसी प्रकार एक छोटी-सी गलती धीरे-धीरे सयमी जीवन को भी खत्म कर सकती है। फिर अन्त समय मे मनुष्य यह कहने के सिवाय और कुछ नही कर सकता—

तुहमतें चन्द अपने जिम्मे धर चले।
किसलिये आए थे हम क्या कर चले ।।

तो अन्त मे पश्चात्ताप करना पडे और उस समय कुछ भी न किया जा सके उससे अच्छा तो यही है कि जिस समय दोपो की शुरुआत हो उसी समय उसके लिये पश्चात्ताप करके हृदय को निर्मल कर लिया जाए और फिर हलके मन से अपने उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास आरम्भ किया जाए। स्थानाग सूत्र मे गर्हा चार प्रकार की बताई गई है। सूत्र इस प्रकार है —

'चउव्विहा गरिहा पण्णत्ता, तजहा—उवसपज्जामित्तेगा गरिहा, वितिगिच्छामित्तेगा गरिहा, जकिंचिमच्छा-मित्तेगा गरिहा एवपि पन्नत्तेगा गरिहा।'

सूत्र का विस्तृत विवेचन करने से पहले हमे यह जानना आवश्यक है कि निंदा व गर्हा मे क्या अन्तर है ? यद्यपि बोल-चाल की भापा मे दोनो एक ही अर्थ मे प्रयोग किये जाते है। दोनो ही पापो की बुराइया प्रदर्शित करते हैं किन्तु तनिक सूक्ष्मता से देखा जाए तो उनका अन्तर स्पष्ट हो जाएगा।

निन्दा शब्द का प्रयोग अव्रतधारी मनुष्यो के लिये किया जाता है और दूसरों की बुराइयो को बताने के लिये प्रयुक्त होता हैं। गर्हा शब्द शास्त्रीय भाषा मे व्रतधारियो के लिये आता है। व्रतधारी साधक के ग्रहण किये हुए व्रतो मे कोई दोष लग जाय तो उसकी आलोचना करना तथा उसके लिये पश्चात्ताप करना गर्हा कहलाता है। आप सामायिक व्रत ग्रहण करते समय उच्चारण करते है—निंदामि, गरिहामि आदि-आदि।

तो निंदा पर की तथा अपनी भी की जाती है किन्तु गुरु की साक्षी मे जो अपनी आत्मा की निंदा की जाती है वह गर्हा कहलाती है।

'तत्र गुरुसाक्षिकाऽऽत्मनो निंदा गर्हा।'

ग्रहण किये हुए व्रतो मे दोष अनेक प्रकार से लगते रहते है। साधना-मार्ग का अवलम्बन करने के पश्चात् भी कोई साधक प्रमाद के कारण, कोई रोग की स्थिति मे भूल कर वैठता है। कठिन वीमारी से भयाक्रात होकर साधक त्यागी हुई वस्तु का सेवन कर लेता है और अकल्पनीय वस्तु को भी ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य यही है कि अनेक प्रयत्न करने पर भी दोषो की प्रतिसेवना हो जाना सभव है और वह जानवूझ कर अथवा अनजाने मे भी होती रहती है। किन्तु सच्चा साधक दोष लगने पर उन्हे छिपाता नही और अविलम्ब अपने गुरु के समक्ष उपस्थित होकर उन्हे प्रकाशित करता है और उसके लिये पश्चात्ताप करता है। इस उपक्रम को ही चार श्रेणियो मे विभाजित करके चौभगी मे वताया गया है।

जव कि किसी सयमी से कोई भूल हो जाती है और भूल होते ही वह विचार करता है—मुझसे अमुक गलती हो गई है और गुरु महाराज के समक्ष पहुँचकर मैं इसे उनके सामने प्रकट करूँ, प्रायश्चित्त ग्रहण करूँ और तव पुन अपनी चर्या आरम्भ करूँ यह प्रथम प्रकार की गर्हा है।

शकाशील व्यक्ति प्रश्न कर सकते है कि जव शिष्य गुरु के सन्मुख पहुँचा नही और उनके समक्ष अपने दोष को प्रदर्शित किया नही तो सिर्फ विचार मात्र से ही गर्हा कैसे मानी गई ? उत्तर वडा सरल और स्पष्ट है कि साधक यद्यपि गुरु के समक्ष पहुँच कर गर्हा नही कर सका किन्तु उसके हृदय मे गर्हा करने की भावना उत्पन्न हो गई। वह अपने दोष को छिपाना नही चाहता और गुरु के समक्ष पहुँचकर उसकी आलोचना करना चाहता है। अतएव यह भावना ही प्राथमिक गर्हा का सही लक्षण है।

भावना का महत्त्व वचन तथा तन की क्रिया से भी अधिक है। कोई व्यक्ति शरीर से किसी का वध न कर सके किन्तु अगर मन मे उसका वध करने की भावना वना ले तो वह वध के पाप का भागी हो जाता है। कहा भी गया है

"परिणामो वन्धो परिणामो मोक्षः।"

अर्थात्-कुत्सित विचारो के कारण से तो कर्मो का बध होता है और शुद्ध विचारो के कारण कर्मों से मुक्ति मिलती है।

एक कहावत है—'Fancy may kill or cure' यानी भावना मार भी सकती है तथा जिला भी सकती है। यह बिलकुल सत्य है क्योकि—

"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।"

जिसकी जैसी भावना होती है, उसको उसके अनुरूप ही सिद्धि मिलती है।

भगवती सूत्र मे भावना का महत्व समझाते हुए बडा सुन्दर स्पष्टीकरण भगवान् के द्वारा किया गया है, यथा—

एक साधु आहारादि के निमित्त बाहर जाता है। वहाँ किसी कारण-वश उसे भिक्षा के दोषो मे से कोई दोष लग जाता है, या किसी प्रकार की और कोई भूल हो जाती है। किन्तु उसी समय उसे पश्चात्ताप होता है और वह अपने को धिक्कारते हुए निश्चय करता है कि मै गुरु जी के निकट पहुंचते ही अपनी भूल को प्रकट करके प्रायश्चित्त करूँगा। यह विचार कर वह अपने स्थान के लिये रवाना हो जाता है पर सयोगवशात् मार्ग मे ही वह काल-कवलित हो जाता है।

ऐसे साधक के लिये गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्, वह साधु आरा-धक माना जाएगा या विराधक ?

भगवान् उत्तर देते हैं—वह साधु विराधक नही अपितु आराधक है।

ऐसा क्यो माना गया ? यद्यपि साधु ने अपने अपराध को प्रकट नही किया, गुरु के समक्ष आलोचना नही की, फिर भी उसके हृदय मे अपनी गलती के लिये पश्चात्ताप की भावना आ गई। अपनी भूल को उसने गर्हित मान लिया। उसके मन मे अपने पाप को छिपाने की भावना नही आई वरन शुद्ध हृदय से गुरु के समक्ष प्रकट कर देने का सकल्प पैदा हो गया। इसमे आतरिक शुद्धि उसकी हो गई।

दूसरे प्रकार की गर्हा वह कहलाती है जब साधक भूल हो जाने पर विचार करता है कि मैंने जिन दोषो का सेवन किया है उसका विविध प्रकार

से निराकरण करू। आशय यह है कि जब साधक अपने दोषो को दोष मानता है और उनके निराकरण तथा आलोचना का संकल्प कर लेता है तो उसकी गर्हा का दूसरा रूप बन जाता है।

कोई भी साधक अपने दोषो को दोष तभी मानता है जब कि उसके हृदय मे जिन-प्ररूपित वचनो पर पूर्ण तथा अविचलित श्रद्धा होती है। ऐसा न होने पर साधक की साधना फलवती नही हो सकती, और शुद्ध नही रह सकती। विश्वास के बिना की जाने वाली साधना मे होने वाली भूलो के लिये भी साधक के हृदय मे पश्चात्ताप की सच्ची भावना पैदा नही हो पाती। और शंकाशील बने रहने के कारण साधना मे चित्त स्थिर नही रह सकता और उसमे वृद्धि भी नही हो पाती।

हम किसी कार्यवश अमुक गॉव को जाना चाहते है और रवाना हो जाते है। किन्तु जिस मार्ग से चल रहे है उसके विषय मे पूर्ण विश्वास नही होता कि इस मार्ग से जाने पर उस गॉव मे पहुच ही जाएगे। परिणाम यह होता है कि प्रथम तो हृदय मे शका बनी रहती है कि कौन जाने उस गॉव को जाने वाला यही मार्ग है या नही ? दूसरे शकाशील मन के कारण मार्ग पर कदम तेजी से नही बढते। तीसरे ऐसी यात्रा मे आनन्द भी नही आता।

साधना का मार्ग भी ठीक इसी प्रकार का है। उसके द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति मे सदेह होने पर न तो साधक पूर्ण मनोभाव से अग्रसर हो सकता है और न ही उसे साधना मे रस आता है। ऐसी स्थिति मे साधना मे होने वाली भूलो के लिए उसके हृदय मे सच्ची पश्चात्ताप की भावना कैसे आ सकती है!

जहाँ शका और सदेह होते है, बुद्धि भी अपना कार्य करना छोड देती है। और सफलता की जगह निराशा हाथ आती है—Doubt is brother devil to despair' सदेह नैराश्य का भ्राता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि साधक निश्चयपूर्वक अपने दोषो को दोष समझे तथा दृढ सकल्प कर ले कि इन दोषो के लिये मुझे कितना भी प्रायश्चित्त क्यो न करना पडे, करना ही चाहिये। तभी उसका प्रायश्चित्त सच्चा होगा। ठीक उसी प्रकार जैसे रोगो से पीछा छुडाने के लिये विवेकशील रोगी कडवी से कडवी दवा खाने के लिये भी कटिबद्ध रहता है।

तीसरी प्रकार की गर्हा 'मिच्छा मि दुक्कड' कहने से होती है। भूलो

के लिये मानसिक पश्चात्ताप तो होता ही है पर साथ ही वचन के द्वारा भी पश्चात्ताप प्रकट करना आवश्यक होता है। वचन ही मन का दर्पण होते है। मन मे जैसे भाव आए वैसा उच्चारण होना स्वाभाविक है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति मन मे कुछ और रखते है तथा वचन से कुछ और बोलते हैं उनका मन कभी पवित्र नही रह सकता। कपटी पुरुषो का बाह्य तथा आन्तरिक स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। किन्तु उनके दु खद परिणाम जब उन्हे भोगने पडते है, तब वे सचेत होकर अपने कपटाचरण पर पश्चात्ताप करते हुए कहते हैं—

शखसम बचश्मे आलिमिया खूब मनजरस्त।
वज खुब से बातनम सरे खिलअत फगन्दाह पेश॥

अर्थात् मेरे बाहरी ठाठ से लोग मुझे भला समझते रहे, परन्तु आन्तरिक नीचता के कारण मेरा सिर शर्म से झुका हुआ है।

कपटी मनुष्य की आत्मा अपने आपको धिक्कारती रहती है और तब उसका जीवन आह्लादमय नही बनता। इसी प्रकार मन मे अपनी भूल के लिये पश्चात्ताप न होने पर 'मिच्छा मि दुक्कड' का कोई महत्त्व नही रहता और साधक भविष्य मे भूलो से बच नही सकता।

चौथे प्रकार की गर्हा वह कहलाती है जब सयमी अपनी भूलो के लिये भगवान् के बनाए हुए विधान के अनुसार पश्चात्ताप तथा आलोचना करता है। जिन प्ररूपित वचनो को समझते हुए तथा उनपर श्रद्धा करते हुए वह अपनी आत्मा को निर्मल बनाता है।

अपनी बडी भारी भूल का इच्छानुसार थोडा सा प्रायश्चित कर लेना अथवा भूल किसी और प्रकार की हो और प्रायश्चित्त किसी और प्रकार का, तो वह भूल को ठीक करने का सही मार्ग नही माना जा सकता। रोगी को बुखार आ जाने पर बुखार की ही दवा लेनी पडेगी। उसके लिये अगर कोई पेट दर्द की दवा ले ले तो क्या वह ज्वर से मुक्ति पा सकेगा ? नही। ज्वर के लिये निर्मित औषधि ही उसके ज्वर को मिटा सकेगी। इसी प्रकार अगर मानसिक दोष होने पर साधक प्रायश्चित्त स्वरूप मौन करके बैठा रहे तो क्या उसके मानसिक विकार दूर हो जाएगे ? मानसिक अपराधो को मिटाने के लिये उसे अपने चिन्तन के उपक्रम को बदलना होगा, उसमे पवि-

त्रता लानी होगी।

तो इस प्रकार की गर्हा के लिये साधक को अपने गुरु के समक्ष उपस्थित होकर जिन भगवान् ने जो विधान किया है उसके अनुसार अपने पापो के लिये प्रायश्चित्त लेना चाहिये। कहा भी है—

जइ सुकुसलो वि विज्जो,
अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाहिं।
तं तह आलोयव्व,
सुट्ठु वि ववहारकुसलेणं ॥

अर्थात् जैसे कुशल वैद्य भी अपने रोग को दूसरे वैद्य के सामने प्रकट करता है, इसी प्रकार प्रायश्चित्त-विधि मे निपुण साधक को भी अपने दोपो की आलोचना दूसरे योग्य व्यक्ति के सन्मुख ही करनी चाहिये।

भगवान् महावीर के इस आदेश का जो साधक पालन करेगा वही अपनी आत्मा को पश्चात्ताप की अग्नि मे निर्मल बनाकर कुन्दन की तरह चमका सकेगा, अन्यथा कितने भी शास्त्र पढ लिये जाएं, कैसी भी कठोर तपस्या की जाय पर भव-सागर को पार करना सभव नहीं होगा।

कपायो के कारण आत्मा भारी होती जाती है और उस दशा मे भव-सागर पार करना असभव हो जाता है। मध्य मे ही डूबने की नौबत आ जाती है। उस समय ज्ञान की गठरी कोई लाभ नही पहुचाती। किन्तु विकारो से बोझिल हो रही आत्मा को पश्चात्ताप तथा आलोचना द्वारा पुन पुन निर्मल तथा हलकी बनाई जा सकती है और सरलतापूर्वक इस भवसागर को तैरा जा सकता है।

तात्पर्य यही है कि आलोचना तथा पापो के प्रति गर्हा [illegible] भवसागर को तैरने की वास्तविक कला है। उसे जाने बिना साधना के विविध अग भी हमारे उद्देश्य की पूर्ति नही कर सकते।

एक प्रोफेसर नदी पार करने के लिए नाव मे बैठे जा रहे थे। रास्ते मे उन्होने नाविक से पूछ लिया – क्यो भाई, नक्षत्रविद्या जानते हो ?

नाव चलाते हुए नाविक ने उत्तर दिया—बाबूजी ! मैं तो नक्षत्रो के नाम भी नही जानता।

प्रोफेसर साहब हस कर बोले—तब तो समझ लो कि तुम्हारा चौथाई जीवन पानी मे चला गया।

थोडी सी देर बाद फिर उन्होने पूछा—क्या तुम थोडा-बहुत गणित पढे हो ?

नाविक दुखी होता हुआ बोला—मैंने कुछ नही पढा बाबूजी !

प्रोफेसर सिर हिलाते हुए बोले—ओह ! तब तुम्हारा आधा जीवन पानी मे चला गया समझो।

नाव पर अन्य कुछ काम तो था नही, प्रोफेसर साहब फिर पूछ बैठे—क्या तुम वनस्पतिविज्ञान के जानकार हो ?

नाविक हँस पडा—नही बाबूजी, मैं तो केवल यही जानता हूँ कि नाव कैसे चलाई जाती है।

ठहाका मारकर प्रोफेसर साहब बोले—अरे ! तब तो तुम्हारे जीवन का तीन चौथाई भाग पानी मे गया।

इस वार्त्तालाप के कुछ समय बाद ही अचानक आंधी चल पडी और नदी मे बडी-बडी लहरें उठने लगी। नाव डगमगाने लगी, धीरे-धीरे उसमे पानी भर चला। मल्लाह ने पानी उलीचने का प्रयत्न किया किन्तु हिलोरो के कारण वह बार-बार भर जाता था। नाविक थक गया, और नाव को सकटग्रस्त देख पानी मे कूदकर तैरने लगा। तैरते-तैरते उसने प्रोफेसर साहब से पूछा—बाबूजी ! आप तैरना जानते है ?

उत्तर मिला—नही ! मै तो तैरना नही जानता। जानता होता तो तुम्हारे साथ ही मैं भी कूद न पडता ?

मल्लाह बोला—तब तो साहब आपकी पूरी उम्र ही पानी मे गई समझिये।

आखिर प्रोफेसर साहब नाव सहित ही भयकर तूफान के कारण जल-मग्न हो गए।

बधुओ ! जिस प्रकार प्रोफेसर साहब महा ज्ञानी होते हुए भी तैरने की कला न जानने के कारण नदी मे डूब गए इसी प्रकार साधक भी अनेक

शास्त्रो का ज्ञाता तथा घोर तपस्वी होने पर भी अगर भवसागर तैरने की कला नही जानता तो उसका पार होना कठिन ही नही असभव हो जाता है। वह कला निश्चय रूप से अपने किये हुए पापो तथा भूलो के लिये गर्हा का होना है। जो व्यक्ति अपनी गलतियो के लिये पश्चात्ताप नही करता उसके हृदय से अहम् की भावना नही जा सकती तथा वह भविष्य मे पुन होने वाली भूलो से भी नही बच सकता।

उसकी आत्मा पाप-कर्मो से बोझिल होती हुई इस भवसागर मे डूब जाती है और वह क्रम कभी समाप्त होने मे नही आता। अपने पापो की स्वीकृति मुक्ति का श्रीगणेश है। दार्शनिक लॉगफैलो ने कहा है —

"Man-like it is to fall into sin; fiendlike it is to dwell therein ; Christ-like it is, for sin to grieve, God-like it is, all to leave"

अर्थात् पाप मे पडना मानव का स्वभाव है, उसमे डूबे रहना शैतान का स्वभाव है, उसपर दुखित होना सत का स्वभाव है और सब पापो से मुक्त होना ईश्वर का स्वभाव है।

कितनी सुन्दर व सत्य उक्ति है कि मनुष्य से पाप हो जाना कोई बडी बात नही। भूल हो जाना तो मनुष्य का सहज स्वभाव है। जानते हुए अनजाने मे भी पाप हो जाते है जिनका कि मनुष्य को स्वय ही पता नही चल पाता। किंतु फल उनका भी भोगना पडता है।

एक बार द्रौपदी कही जा रही थी। रास्ते मे एक नदी आई। किनारे पर राजा कर्ण सूर्य की उपासना मे मग्न बैठे हुए थे।

उन्हे देखकर क्षण भर के लिये द्रौपदी के मन मे आ गया कि यह भी तो पाडवो के भाई है अगर उनके साथ रहते तो यह भी मेरे पति होते। विचार आया और चला गया। द्रौपदी भी अपने स्थान पर चली गई।

कृष्ण अन्तर्यामी थे। उन्हे द्रौपदी के इस विचार का पता चल गया। द्रौपदी तो इस बात को भूल ही चुकी थी किन्तु कृष्ण ने सोचा कि अगर यह इस क्षणिक विकार का भी प्रायश्चित्त नही करेगी तो यह तनिक-सा पाप भी इसके सतीत्व को कलकित बनाए रहेगा और द्रौपदी को इसका कटु फल भोगना पडेगा। अत इसका प्रायश्चित्त कराना आवश्यक है।

यह विचारकर एक दिन कृष्ण द्रौपदी तथा पाचो पाडवो को लेकर एक उपवन की ओर पहुँचे । उसमे प्रवेश करने से पूर्व कृष्ण ने सबसे यह कह दिया कि कोई भी इसमे से एक भी फल अथवा फूल तोडे नही । सबने इस आज्ञा को स्वीकार कर लिया और उपवन मे प्रवेश किया ।

उपवन के सौन्दर्य का अवलोकन करते हुए सब उसमे विचरण कर रहे थे । भीम सबसे पीछे थे । उनकी दृष्टि एक आम्र-वृक्ष की ओर गई । अति-सुन्दर सरस आमो को देखकर उनसे रहा नही गया और एक आम तोड ही लिया । उसे खाने के लिये तैयार हो रहे थे कि सामने कृष्ण खडे हुए दिखाई दिये ।

कृष्ण ने कहा—मैंने कहा था आप सबसे कि कोई भी फल-फूल नही तोड सकता । इस आदेश को भूल गए क्या ?

भीम बोले—नटवर ! मुझसे भूल हो गई ।

कृष्ण ने कहा—अच्छा इसे वापिस पेड की डाल मे लगाओ ! भीम चकरा गए और बोले—ऐसा भी हो सकता है क्या ? टूटा हुआ फल वापिस पेड मे कैसे लग सकता है ?

कृष्ण को तो द्रौपदी को प्रायश्चित्त व शिक्षा देनी थी अत बोले—हाँ, अगर तुमने कोई पाप न किया होगा तो टूटा हुआ यह फल अवश्य डाल पर लगेगा ।

भीम ने कहा—कृष्ण ! मैंने तो अभी पाप किया ही हे अत आप धर्मराज मे अपनी परीक्षा की शुरुआत कीजिये ।

कृष्ण ने बाकी चारो पाडवो को तथा द्रौपदी को बुलाया और धर्म-राज युधिष्ठिर से फल को वापिस पेड मे लगाने को कहा ।

युधिष्ठिरने इष्टदेव का स्मरण किया और बोले—जहाँ तक मेरी स्मृति है, मैंने किसी दोष का सेवन नही किया है । अगर यह सत्य है तो फल पुन वृक्ष की ओर उठ जाए ।

उनके यह कहते ही आम का फल पृथ्वी से कुछ उपर उठ गया । उसके पश्चात् अर्जुन, नकुल तथा सहदेव सभी ने इन शब्दो का उच्चारण किया । देखते-देखते आम क्रमश थोडा-थोडा ऊपर उठता गया और वृक्ष की

शाखा के निकट जाकर रुक गया।

अब द्रौपदी की बारी आई। उसने हाथ जोड़ कर इष्टदेव को नमस्कार करते हुए कहा—अपने पाँचो पतियों के अतिरिक्त अगर स्वप्न मे भी मुझे किसी अन्य की वाछा न हुई हो तो आम्रफल! तुम वापिस वृक्ष की डाल से लग जाओ।

किन्तु महान् आश्चर्य! आम वृक्ष मे लगने के बजाय वापस पृथ्वी पर गिर पड़ा। सब अभिभूत की तरह खड़े रह गए।

कृष्ण ने तब महज सान्त्वना के स्वर मे कहा—द्रौपदी! घबराओ नही, स्मरण करो, अपने जीवन को टटोलो, कभी तुम्हारी विचारधारा मे कोई मलीनता तो नहीं आई?

द्रौपदी कुछ क्षण निरुत्तर रहकर बोली—भगवन्! मुझे तो स्मरण ही नही आता। कृपया आप ही मुझे मेरे दोष से अवगत कराइये।

कृष्ण ने तब मुस्कराते हुए उसे नदी-किनारे की घटना का स्मरण कराया। द्रौपदी ने अपने उस क्षणिक विकार के लिये घोर पश्चात्ताप किया और सोचा—ओह! इतनी-सी बात का कटु परिणाम? मुझे धिक्कार है! मैंने अपने सतीत्व मे कलक लगाया।

मन मे इस प्रकार विचार आते ही द्रौपदी का हृदय निष्कलक और पवित्र हो गया तथा सबकी आश्चर्य भरी निगाहो के सामने ही आम का वह फल पृथ्वी से उठकर पलभर मे ही वृक्ष की डाल मे जाकर लग गया।

सज्जनो! मन की तनिक-सी विकृति का और मन की निर्मलता का परिणाम आपने देखा? इस प्रकार मन के क्षणिक विकार से आत्मा कलुषित हो जाती है किन्तु सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करने पर तथा कृष्ण सदृश गुरु के समक्ष निवेदन करने पर वह कलुषता कान्ति मे बदल जाती है। आत्मा अपनी तेजस्विता को पुन प्राप्त कर लेती है।

अपने प्रमाद या विगत भूलो के लिए पश्चात्ताप करना आवश्यक है। साथ ही यह ध्यान रखना भी अनिवार्य है कि पश्चात्ताप दिखावटी पश्चाताप न रह जाए। पश्चात्ताप होने के साथ भूलो को सुधारने का तथा नवीन भूलो को न होने देने का दृढ सकल्प भी होना चाहिये। यही सच्चे प्रायश्चित्त की कसौटी है।

भविष्य मे भूलें न हो, उसका उत्तम उपाय है आलोचना करना। सरल तथा शुद्ध भाव से प्रात काल तथा सायंकाल अपने दोपो पर विचार करनेवाला साधक भविष्य मे अनेक दोषोसे बच सकता है। जैसा कि मैने अभी बतायाथा अपने पापो की गर्हा भी भगवान् महावीर के निर्देश किये हुए विधान के अनुसार करना चाहिये। कहा गया है —

ज पुव्व त पुव्व जहाणुपुव्वि जहक्कमं सव्व।
आलोइज्ज सुविहिओ, कमकाल विधि अभिन्दतो ॥

समाधिभरण, प्र १०५

अर्थात् श्रेष्ठ आचार वाले साधक को क्रम और काल का उल्लधन न करते हुए दोनो की क्रमश आलोचना करनी चाहिये। जो दोष पहले लगा हो उसकी आलोचना पहले और वाद मे लगे दोष की आलोचना वाद में करनी चाहिये।

पैनी एव अन्तर्मुख दृप्टि वाला साधक अपने जीवन की घटनाओ से बहुत लाभ उठा सकता है यद्यपि निरर्थक दु ख अथवा पश्चात्ताप करके अमूल्य समय गँवाना ठीक नही है, किन्तु जो अनुभव प्राप्त हुए है उनसे लाभ उठाते हुए शेष जीवन को उपयोगी और दोषरहित बनाना चाहिये।

भूतकाल मनुष्य के हाथ मे नही है किन्तु भविष्य को बनाना मनुष्य के हाथ मे है। इसलिये प्रत्येक आनेवाले क्षण का सदुपयोग करते हुए साधक को साधना-पथ पर बढना चाहिये। समय ससार की सर्वोत्तम विभूति से भी महान् है। क्योकि अनुकूल प्रयत्न द्वारा सर्वश्रेष्ठ वैभव प्राप्त किया जा सकता है परन्तु करोडो प्रयत्न करके भी बीते हुए समय को वापिस नही लाया जा सकता। यही कारण है कि भगवान् ने 'समय गोयम मा पमायए' कहकर समय का मूल्य प्रदर्शित किया है।

साधक को अपने जीवन की महत्ता समझते हुए आत्मा के असली स्व-रूप को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिये। मनुष्य में ही विशिष्ट विवेक की प्राप्ति होती है। और इसी मानव-शरीर का निमित्त पाकर मुनिजन उच्चगुण-स्थानो की प्राप्ति करके मुक्ति प्राप्त कर सकते है। यह मानवशरीर तो इस भवसागर से पार उतरने के लिये नौका के समान है। नदी पार करके जिस प्रकार नाव किनारे पर छोड़ दी जाती है उसी प्रकार इस संसार को पार

करके इस नश्वर शरीर का त्याग हो जाता है। कवि के कितने सुन्दर भाव है --

भव सागर से पार उतरने को शरीर नौका है।
मानव भव शाश्वत सुख पाने का अनुपम मौका है ।।

साधक को शास्त्रो के विधानो की ओर दृष्टिपात करते हुए विगत पापो का पश्चात्ताप तथा भविष्य के लिये पवित्र भावनाओ से अपने हृदय को विभूषित करना चाहिए तभी आत्मा शाश्वत सुख की प्राप्ति कर सकेगी। और अजर-अमर पद को पा सकेगी ।

[१२]

उन्नति के मूल मन्त्र

इस सृष्टि मे अपने जीवनकाल मे जीते तो सभी मनुष्य हैं किन्तु उनमे से कितने जीवन को उन्नत बनाकर उसे सफल बना पाते है ? कितने व्यक्ति सदा जीवन को उन्नति की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न करते है ? उत्तर होगा—बहुत ही कम, इने-गिने पुरुष ही।

यद्यपि प्रत्येक मनुष्य अपने जेब से पाँच पैसे की वस्तु खरीदने पर उसका सही उपयोग करने का विचार करते हैं किन्तु अमूल्य जीवन की सही उपयोगिता पर विचार करने का कष्ट नही उठाते। जीवन किस लिये प्राप्त हुआ है ? इसकी सफलता किसमे है ? हमे कौन से कर्त्तव्य करने चाहिये जिससे जीवन निष्फल न बनकर सफल बने ? इन बातो पर गभीरता से चिंतन विरले मनुष्य ही करते है।

कुछ लोगो की, जो इस विषय मे विचार करते भी हैं, दृष्टि अत्यत सीमित होती है। अतएव वे इहलौकिक उन्नति में ही जीवन की सफलता मान लेते हैं। वे आत्मा के शाश्वत कल्याण के दृष्टिकोण से विचार नही करते। कोई करोडपति बनने मे जीवन का साफल्य मानते है, कोई मान-प्रतिष्ठा की प्राप्ति मे, कोई परिवार की वृद्धि मे और कोई भोगोपभोग भोगने मे। उनकी दृष्टि मे शरीर का सुख मुख्य होता है और शरीर मे स्थित आत्मा का सुख नगण्य। वास्तव मे वे शरीर और आत्मा को भिन्न तत्त्व ही नही मानते या इनकी भिन्नता को समझ नही पाते।

किन्तु जिस शारीरिक सुख और भोग-विलास को मनुष्य जीवन का चरम सुख मानता है और जिनकी प्राप्ति के लिये वह अहर्निश दौड-धूप किया करता है क्या उनसे आत्मा की समस्या सुलझती है ? उनसे आत्मा बन्धनमुक्त और शुद्ध बन सकता है ? भगवान् महावीर ने कहा है—

खणमित्त सुक्खा बहु काल दुक्खा,
पगाम दुक्खा अणिगाम सुक्खा।

संसार मुक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ।।

—उत्तराध्ययन १४-१३

अर्थात् यह काम-भोग क्षण भर सुख देने वाले है और चिरकाल तक दुःख देने वाले हैं। यह काम-भोग जन्म-मरण से छुटकारा पाने के विरोधी हैं, मोक्ष सुख के शत्रु और अनर्थों की खान है।

जिसे आत्मतत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता की प्रतीति हो चुकी है ऐसा विवेक-वान् व्यक्ति मानव-शरीर का निमित्त पाकर आत्मा को उन्नति की ओर ले जाने मे प्रयत्नशील रहता है। आत्मा की उन्नति अथवा उसके कल्याण का अभिप्राय है आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होना। विषय-विकारो को जीतते हुए आत्मा को निर्विकार बनाने का प्रयत्न ही उन्नति है और वही आत्मकल्याण है। आत्मा ज्यो-ज्यो उन्नत होती जाती है, मुक्तिपथ की मजिल उतनी ही तय होती जाती है।

इसलिये प्रत्येक बुद्धिमान् को प्रतिक्षण आत्मोन्नति करते हुए अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहिये। आत्मा को उन्नत बनाने के लिये सर्वप्रथम आत्मविश्वास होना आवश्यक है। आत्मविश्वास का अर्थ है अपनी असीम और अनन्त क्षमता को समझना। परमात्मा मे जिन शक्तियो का अस्तित्व माना जाता है उन सबका अपने मे अनुभव करना। समग्र पारमात्मिक शक्तियाँ मेरी आत्मा मे निहित है, इस प्रकार की प्रबल अनुभूति से तत्काल आत्मा मे अनिवर्चनीय बल का प्रादुर्भाव होता है। इसके विपरीत, आत्महीनता का अनुभव होना मृत्यु के समान है। मृत्यु दुखदायी मानी जाती है और वह जीवन के अन्त मे एक बार ही दु ख देती है, लेकिन आत्महीनता ऐसी मृत्यु है जो कि पल-पल पर आती है और तिल-तिल करके आन्तरिक शान्ति को नष्ट करती रहती है। अत आत्मबल की अनुभूति के द्वारा ही बुद्धिमान् पुरुष को आत्मविश्वास पैदा करना चाहिये।

आत्मबल के बिना मानव उन्नति के मार्ग पर एक कदम भी नही बढ सकता। आत्मबल ही मनुष्य को निर्भय होकर उन्नति पथ पर चलने की प्रेरणा देता है। आत्मबल बढने से इन्द्रियो की प्रबलता घटती है और विषयासक्ति हटने लग जाती है। विषयासक्ति ज्यो-ज्यो कम होती जाती है आत्मा मे अपूर्व शान्ति, समता, सन्तुष्टि एव निराकुलता उत्पन्न होती है और आत्मा का

उत्थान होने लगता है।

प्रश्न उठता है कि आत्मबल कैसे बढाया जाय ? इस विषय मे कहा गया है—

उद्यम साहस धैर्यं, बलं बुद्धि पराक्रम ।
षडेते यत्र वर्तन्ते, तस्मात् देवोपि शंकते ।।

अर्थात् जिस व्यक्ति मे उद्यम (पुरुषार्थ) साहस, धैर्य, बल, बुद्धि तथा पराक्रम, ये छ गुण होते है उसका आत्मबल इतना बढ जाता है कि देव भी उससे शकित रहते है।

ये छहो गुण आत्मबल को इतना दृढ बना देते है कि आत्महीनता का भाव वहाँ अकुरित ही नही होता और आत्मा निरन्तर विकास की ओर अग्रसर होती चली जाती है। इसलिये इन्हे ही हम उन्नति के मूल मत्र कह सकते हैं।

उन्नति के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को उद्यमशील अर्थात् पुरुषार्थी होना आवश्यक है। सही चिन्तन और उसके अनुसार सही कार्य उन्नति की कसौटी है। वास्तव मे सोचना और करना यह दोनो ही उन्नति के चरण है। इन दोनो के बराबर चलने पर ही उन्नति हो सकती है।

प्राय देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति सोचते बहुत है और इतना अधिक सोचते है कि वे उतना कर नही पाते। और कुछ व्यक्ति बिना सोचे-विचारे करने को तत्पर हो जाते है। अधाधुध किये जाते हैं। वास्तव मे दोनो प्रकार के व्यक्ति अपूर्ण हैं। उनके चितन अथवा कार्य का सही उपयोग नही हो पाता। इनमे से कोई भी अपनी उन्नति नही कर सकता। उन्नति वही कर पाता है जो अपने विचार और कार्य दोनो मे सामञ्जस्य बैठा लेता है और अपने इन दोनो चरणो को क्रमश चालू रखता है।

किसी भी प्रलोभन, विरोध अथवा भय से अपनी गति को न रोकता हुआ जो उद्यमी पुरुष अपने निर्णीत लक्ष्य की ओर बढता है वही उसे पाने मे समर्थ होता है। बिना पौरुष के सिद्धि प्राप्त नही होती।

उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथै ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य, प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।।

अर्थात् कार्य मनोरथ से नही वरन् उद्यम से सिद्ध होते हैं। सोते हुए

सिह के मुँह मे मृग अपने आप ही प्रवेश नही करते ।

जगल का राजा होने पर भी शेर को विना उद्यम किये अपना लक्ष्य प्राप्त नही होता। उसी प्रकार असीम शक्ति का स्वामी होन पर भी मनुष्य को उद्यम के विना अपने लक्ष्य की प्राप्ति नही हो सकती। अगर वह किसी कार्य को करने का निश्चय करता है तो उसे अविलम्व सम्पूण शक्ति के साथ उसे पूरा करने का प्रयास करना चाहिये। अगर उद्यमहीनता के कारण विलव किया जाएगा तो मानसिक शिथिलता वढ जाएगी और कार्य करने के लिये किया हुआ निश्चय छिन्न-भिन्न हो जाएगा। उत्साह भग हो चलेगा। लोहा ठण्डा हो जाने पर उसपर घन की कितनी ही चोटे पडे वे फलदायक नही होती।

वहुत-से मनुष्य अपने पौरुप का युवावस्था मे दुरुपयोग करते है। उस काल मे सासारिक सुख और विषय-विलास में मस्त रहते है। वे सोचते है कि वृद्धावस्था मे धर्म-कार्य करके मुक्ति का प्रयत्न कर लेंगे। यह मनोदशा अतिशय शोचनीय है।

प्रथम तो वे यह भूल जाते है कि वृद्धावस्था मे समस्त इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती है, शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है पौरुष थक जाता है और इच्छा रहने पर भी मनुष्य कुछ नही कर सकता। जब इन्द्रियाँ जवाब दे देती है उस समय इच्छा होने पर भी क्या किया जा जकता है? पश्चात्ताप के अलावा कुछ भी हाथ नही आता। यही विचार कर कवि ने मानव को चेतावनी दी है—

जौ लौं देह तेरी काहू रोग सौं न घेरी,
जौं लौं जरा नाहीं नेरी जासौं पराधीन परि है।
तौ लौं मित्र मेरे! निज कारज सँवार लै रे।
पौरुप थकेंगे फेरि पीछे कहा करि है?

अर्थात् जव तक शरीर को किसी व्याधि ने नही घेरा है और वुढापा निकट नही आया है तब तक मित्र! आत्मा का कल्याण करके जीवन का महान् उद्देश्य पूर्ण कर लो। अन्यथा फिर पौरुप के थक जाने पर क्या कर सकोगे?

वधुओ! दूसरी वात यह है कि वृद्धावस्था आएगी ही, यह निश्चय-

पूर्वक कौन कह सकता है ? मौत किसी भी क्षण प्राणी को दवोचकर ले जा सकनी है। वह तो तभी से ताक लगाए रहती है जब जीव जन्म लेता है। यमराज के झपट पडने पर फिर किसकी सामर्थ्य है जो अपनी आयु का एक क्षण भी वढा सके ? कहा भी है—

किसका है सामर्थ्य काल का भोग न होने देवे।
कौन आज तक जनमा है जो आयु वृद्धि कर लेवे ? ।।

कितना कठोर सत्य है ! वास्तव मे जीवन का कुछ भी भरोसा नही है। अभी है और क्षणभर मे नही है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य भविष्य का भरोसा करके अपने जीवन को विना उद्यम किये ही नष्ट कर देते है। इमसे भयकर भूल और क्या हो सकती है।

वगदाद का खलीफा अपने निजी खर्च के लिये प्रतिदिन शाम को राज-कोष से सिर्फ एक रुपया लिया करता था। इससे अधिक न लेने का उसने नियम वना लिया था। एक रुपया मे ही वह अपने तथा अपने परिवार के खाने-पीने और कपडो का खर्च चलाया करता था।

एक वार ईद के त्यौहार पर राज्य के सभी लोगो तथा बच्चो को नए कपड़े पहने देखकर खलीफा के वच्चे भी नए कपडो के लिये ज़िद करने लगे। खलीफा की पत्नी ने उन्हे बहुत समझाया किन्तु वच्चे ही तो ठहरे, उन्होने हठ नही छोडा।

अन्त मे खलीफा की पत्नी ने खलीफा से कहा—आप तीन दिन के तीन रुपये आज पेशगी ले आइये। उनसे बच्चो के कपडो का प्रवध कर लेंगे। किन्तु खलीफा ने पत्नी की बात का उत्तर दिया—"अगर तुम खुदा के पास जाकर मेरी जिन्दगी के तीन दिन का पट्टा ले आओ तो मैं उसके आधार पर राजकोष से अपने तीन दिन के रुपये पेशगी ले लूगा।"

पत्नी निरुत्तर हो गई। वह जानती थी कि तीन दिन की तो क्या, इसान तीन क्षण की भी गारटी अपनी जीवन की नही ले सकता।

इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह आज का कार्य कभी कल पर छोडकर उद्यमहीन न बने, छोटा अथवा वडा कार्य यथासमय आरम्भ करके उत्साहपूर्वक सम्पन्न करना चाहिये। प्रमाद के कारण अपने पुरुषार्थ को निर्वल वना लेना अवनति का कारण होता है।

उन्नति का दूसरा मंत्र है साहस। मनुष्य साहस की अपराजेय शक्ति का स्वामी होता है। साहस के बल पर अन्धकार को चीर कर भी इसान प्रकाश प्राप्त करता है। साहस कही हारता नही, कभी पीछे हटता नही। साहसी मनुष्य के लिये विश्व मे कोई भी कार्य असभव नही होता। कहा भी गया है—

अगनवेदी वसुधा, कुल्या जलधि· स्थली च पातालम्।
वल्मीकश्च सुमेरु कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य।।

साहसी और दृढप्रतिज्ञ वीर के लिये समस्त ससार घर के आगन के समान, समुद्र एक क्षुद्र नदी के समान, पाताल स्थल के समान और सुमेरु पर्वत भी दीमक के घरौंदे के समान होता है।

साहसी व्यक्ति जिस कार्य मे हाथ डालता है, सफलता प्राप्त करके ही रहता है। 'असभव' शब्द उसके कोप मे कही नही होता। कठिन-से-कठिन परिस्थिति आ जाने पर भी वह हिम्मत नही हारता। अन्त मे सफलता उसके चरण अवश्य चूमती है। किसी शायर ने मनुष्य के साहस और हिम्मत को ललकारते हुए एक अन्योक्ति कही है—

न शाखे गुल ही ऊँची है, न दीवारे चमन बुलबुल।
तेरी हिम्मत की कोताही, तेरी किस्मत की पस्ती है।।

अर्थात् हे बुलबुल! न तो शाखाएँ ही ऊँची है और न बगीचे की दीवारे ही ऊँची हैं। सिर्फ तेरी हिम्मत की कमी ही किस्मत की हार है।

वास्तव मे ही साहस भाग्य को बनाने वाला होता है। यह मानव का ऐसा महान् गुण है जिसके होने पर अन्य अनेक गुण उसमे स्वय आ जाते है। चर्चिल का कथन है—

Courage is the first of human-qualities because it is the quality which guarantees all the others

मानव के सभी गुणो मे साहस पहला गुण है क्योकि यह सभी गुणो की जिम्मेदारी लेता है।

साहसी व्यक्ति जिस प्रकार सासारिक कार्यो मे सफलता प्राप्त करता, अपने बाह्य शत्रुओ को जीत लेता है, उसी प्रकार आतरिक शत्रुओ को भी

जीतने मे समर्थ होता है । और वैर, विरोध, राग, द्वेष, तथा वैमनस्य आदि मनुष्य के आतरिक शत्रु है जो आत्मा पर अधिकार करके उसे अधोगति की ओर ढकेल देते है । इनपर विजय पाना असीम साहस का कार्य है । जो इन्हें जीत लेता है वह वास्तव मे साहसी पुरुष माना जाता है ।

इन आतरिक शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने के लिये पहले मनुष्य को इन्द्रियो पर और मन पर भी विजय प्राप्त करना होता है । इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना टेढी खीर है परन्तु मन को जीतना उससे भी कठिन । गीता मे कहा है—

> **चञ्चलं हि मन कृष्ण प्रमादि बलवद् दृढम् ।**
> **तस्याह निग्रह मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥**

अर्जुन हीनभाव से ग्रस्त होकर कृष्ण से कहते है—मन बडा चचल है, मनुष्य को मथ डालता है । यह बहुत बलवान् है । जैसे वायु को दबाना बहुत कठिन है वैसे ही मन को वश मे करना भी मुझे अत्यन्त कठिन लगता है ।

इसके उत्तर मे कृष्ण ने समझाया कि मन भले चचल और बलवान् हो तथापि वह अन्तत है तो आत्मा का औजार ही । वैराग्य और अभ्यास से उसे अवश्य वशीभूत किया जा सकता है ।

कहने का मतलब यह है कि साहसी मनुष्य मन पर और इन्द्रियो पर विजय पा सकता है, इन्हे अपना अनुचर बना सकता है । कायर व्यक्ति को मन अपना गुलाम बना लेता है, और अपनी इच्छानुसार उसे नचाया करता है । कमजोर और डरपोक व्यक्ति किसी भी कार्य को हाथ मे लेने मे पहले उससे भयभीत हो जाते हैं । वे कभी सोचते हैं कि मुझसे यह कार्य हो सकेगा या नही ? और कभी सोचते हैं कि कार्य मे अगर गलती हो गई तो लोग मज़ाक उडाएँगे ।

इसके विपरीत साहसी व्यक्ति न अपनी कर्तृत्वशक्ति मे ही अविश्वास करता है और न ही लोगो के उपहास से भयभीत होता है । वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अदम्य साहसपूर्वक जुटा रहता है । किसी भी बाधा की परवाह नही करता । अपने साहस को वह अपना सबसे बडा सहयोगी मानता है और उसकी सहायता से निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर होता रहता है ।

उन्नति के लिये तीसरा गुण आवश्यक है धैर्य । मनुष्य को प्रत्येक

स्थिति मे धैर्य रखना आवश्यक है। अनेक पुरुष किसी कार्य का आरम्भ करते है पर शीघ्र ही फल प्राप्त न होने पर अधीरता के कारण उसे छोडकर दूसरा कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। ऐसे व्यक्तियो को सफलता प्राप्त होना कठिन होता है। महामूर्ख व्यक्ति भी अगर धैर्यपूर्वक सतत प्रयत्न करता रहे तो कालान्तर मे वह अवश्य ही महापडित बन सकता है।

किन्तु कुशाग्रबुद्धि मनुष्य भी अगर कुछ दिन अग्रेजी पढे, उसमे अरुचि हो जाने पर सस्कृत पढना आरम्भ करे और फिर उसे छोडकर हिन्दी पढने लगे। और उसे भी धता बताकर प्राकृत सीखने लगे तो मै समझता हूँ कि वह किसी भी भाषा मे पूर्ण योग्यता हासिल नही कर सकता। सफलता मे विलम्ब होते देख धैर्य रखना बडा कठिन होता है किन्तु अन्त मे उसका परिणाम बडा सुन्दर निकलता है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है—

'Patience is bitter, but its fruit is sweet" अर्थात् धैर्य कडवा होता है पर उसका फल मधुर होता है।

साधना के क्षेत्र मे तो धैर्य की अनिवार्य आवश्यकता है। साधक अगर विघ्न-बाधाओ से घबराकर अपनी साधना से च्युत हो जाए तो वह साधना का फल प्राप्त नही कर सकता। भगवान् महावीर ने बारह वर्ष तक लगातार साधना की थी। साधना के काल मे अनेक कष्टो का उन्हे सामना करना पडा था, किन्तु अनुपम धैर्य से उन्होने सब सहन किया। तभी उसका अमिट फल वे प्राप्त कर सके।

गौतमबुद्ध ने निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय मे दीक्षा लेकर ज्ञान प्राप्त करने के लिये घोर तपस्या की। कठोर तपश्चर्या के कारण उनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया तब उन्होने साधना के उस मार्ग का ही परित्याग कर दिया। वास्तव मे असीम धीरज होने पर ही आत्मा परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

महापडित वोपदेव दक्षिण के यादव वशी राजा महादेव की सभा के पडित थे। बचपन मे जब वे अध्ययन करते थे, उन्हे व्याकरण याद नही होता था। इस कारण उनके गुरुजी उनसे सदा अप्रसन्न रहा करते थे। पाठशाला मे उन्हे सदा अपमानित होना पड़ता था।

एक दिन पाठ याद न होने के कारण गुरुजी ने उन्हे बहुत पीटा। वोपदेव अत्यत दुखी और निराश होकर एक कुए के पास जाकर बैठ गए। उनका मन

बहुत ही चिंतामग्न था।

एक स्त्री उस कुंए पर पानी भरने के लिये आई। बोपदेव ध्यानपूर्वक उसका पानी भरना देख रहे थे। उन्होने देखा कि निरन्तर रस्सी की रगड से वहाँ का पत्थर घिस गया था और उसपर गहरे निशान बन चुके थे।

यह देखकर बोपदेव के हृदय मे विचार आया—"निरतर रस्सी की रगड से जब पत्थर भी घिस गया है, तो क्या यह सभव नही है कि निरतर परिश्रम करने से मुझे व्याकरण याद हो जाय? अवश्य ही व्याकरण मुझे धैर्यपूर्वक लगातार परिश्रम करने से याद हो जाएगा।"

इसके बाद बोपदेव के हृदय मे दृढ विश्वास हो गया और उन्होने अथक प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया। अत्यन्त उत्साह और आशा के साथ वे आवृत्ति पर आवृत्ति करते रहे। परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर वे प्रकाड विद्वान् बने और उन्होने 'मुग्ध-बोध' नामक व्याकरण लिखा। सत्य ही है—

करत करत अभ्यास के, जडमति होत सुजान
रसरी आवत-जात ते सिल पर परत निशान॥

सकट और दु ख के सयय मे मनुष्य को आर्त्तध्यान छोडकर धीरज रखना चाहिए। आपत्ति के समय धीरज त्याग देने से उसका सामना एव प्रतीकार नही किया जा सकता। निराशा और दुखपूर्वक हाय-हाय करने से क्या बन सकता है? ऐसे समय मे धैर्यपूर्वक स्थिति को सुधारने का प्रयत्न करना ही उचित है। नीतिकारो ने कहा है—

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा,
भये वा जीवितान्तके।
विमृशश्च स्वया बुद्धया,
धृतिमान् नावसीदति॥

अर्थात् शोक मे, आर्थिक सकट मे अथवा प्राणान्तकारी भय उपस्थित होने पर जो व्यक्ति अपनी बुद्धि से दु ख निवारण के उपाय का विचार करते हुए धैर्य धारण करता है, उसे कभी कष्ट नही उठाना पडता।

सच पूछा जाय तो सकट के समय धीरज धारण करना मानो आधे

सकट का निवारण करना है। और लडाई के समय धीरज रखना आधी लडाई जीत लेने के ममान है। कहा जाता है कि शत्रु का लोहा भले ही गरम हो जाए पर हथौडा तो ठण्डा रहकर ही काम दे सकता है।

धैर्य शील व्यक्ति छोटी-मोटी कठिनाइयो से निराश अथवा उत्तेजित नही होता। वह इनकी परवाह किये बिना ही अपने लक्ष्य की ओर बढता जाता है। बडे-मे-बडा सकट भी उसे अपने मार्ग से च्युत नही कर पाता।

एक सेठ बडे धर्मात्मा थे। वे नियमित रूप मे धर्मस्थानक मे जाकर सामायिक, ध्यान तथा स्वाध्याय किया करते थे।

एक दिन सेठ का इकलौता पुत्र चल बसा। इस कारण सेठ जी को धर्म-स्थान मे जाने मे विलम्ब हो गया। जब वे कुछ विलम्ब से धर्मस्थान में पहुँचे तो जैनाचार्य ने उनसे विलम्ब से आने का कारण पूछ लिया। सेठ ने उत्तर दिया—भगवन्! आज आवश्यक कार्यवशात् देर हो गई। यह कहकर सेठ जी अपने कर्म मे रत हो गए।

कुछ काल पश्चात् चार-छह व्यक्ति वहाँ आए और उन्होने आचार्य से कहा—महाराज! आज बडा अनर्थ हो गया।

महाराज ने उत्सुकता से प्रश्न किया—क्या बात है भाई?

उन लोगो ने कहा—मेठ जी का इकलौता पुत्र गुजर गया है।

धर्माचार्य सेठ जी की धीरता से अत्यन्त प्रभावित हुए यह देखकर कि सेठ जी पुत्र-निधन जैसे भयकर एव कष्टदायक समय मे भी प्रभु-भक्ति को नही भूले। वे अपूर्व माहस एव धैर्य का परिचय देकर धर्म-स्थानक मे आए। उन्होने सेठ जी को सान्त्वना दी।

किन्तु सेठजी बोले—"महाराज! ससार मे कौन किसका है? पुत्र मेरा होता तो मेरे पास रहता, मुझे छोडकर जाता ही क्यो? मुझे छोडकर जाने वाले पुत्र के कारण मे अपनी भावना छोडू, इमसे तो अधिक हानि ही होगी।

बधुओ! इस प्रकार हम देखते है कि सच्चा साधक किसी भी स्थिति मे धैर्य नही खोता और तभी वह सिद्धि प्राप्त करने मे सफल होता है। सफल की कुजी धैर्य ही है। अधीर व्यक्ति सफलता से कोसो दूर रह जाता है क्यो-कि वह हिम्मत हारकर अपने मार्ग को छोड देता है। परिणाम यह होता है

कि सिद्धि के लिये किये हुए बहुत कुछ प्रयत्न पर भी पानी फिर जाता है। कोई व्यक्ति कुए में से पानी खीचने जाए। कुए की गहराई सौ हाथ हो। वह व्यक्ति नब्बे हाथ रस्सी खीचे और तब भी पानी न पा सकने पर झल्लाकर अथवा निराश होकर सिर्फ दस हाथ की दूरी रह जाने पर भी रस्सी हाथ से छोड दे। इस तनिक-सी अधीरता का क्या परिणाम निकलेगा? प्रथम तो वह जल प्राप्त नही कर सकेगा, दूसरे नब्बे हाथ रस्सी खीचने का परिश्रम भी व्यर्थ चला जाएगा।

इसलिये मानव को धैर्य का त्याग कभी नही करना चाहिये। अपने मन को साहस बधाते हुए सदा चेतावनी देते रहना चाहिये—

धीरे धीरे रे मना धीरे कारजहोय।

अब हम उन्नति के चौथे मत्र पर आते है। वह है-'बल'। बल अथवा शक्ति के बिना उन्नति होना किसी भी क्षेत्र मे असभव है। सामाजिक क्षेत्र मे कहा जाता है 'जिसकी लाठी उसकी भैस।' अर्थात् जिसके पास शक्ति है वही सर्व साधनो से सम्पन्न बन सकता है।

धार्मिक क्षेत्र मे भी शक्ति की आवश्यकता होती है। शक्ति के बिना साधना असम्भव है। साधक की मानसिक शक्ति जब असीम होती है तभी वह अपनी साधना को आगे बढाता जा सकता है। कमजोर व्यक्ति साधना के क्षेत्र मे सफलता प्राप्त नही कर सकता।

सासारिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार की उन्नति के लिये शक्ति का होना अनिवार्य है। युद्ध के अवसर पर सेनापति सैनिको को ललकारता है झपटो, शत्रु पर हमला करो। और एक धर्माचार्य भी जनता मे कहता है— अपने कषायादि आतरिक शत्रुओ का मुकाबला करो, उन्हे पूरी तरह परास्त कर दो। दोनो ही शक्ति के द्वारा शत्रुओ से जूझने का उपदेश देते हैं।

शक्ति सफलता का मूल है। ससार मे जितने भी कार्य किये जाते हैं, उन सब की जड मे शक्ति ही कार्य करती है। शक्ति ही जीवन है। उसके बिना जीवन की कल्पना करना कठिन है। शक्तिहीन अथवा शक्ति होने पर भी आलसी मनुष्य कभी भी सफल जीवन व्यतीत नही कर सकता। उसका जीवन ऐसे रेगिस्तान की तरह होता है, जिसमे कुछ भी पैदा नही हो सकता।

मनुष्य को एक महत्त्वपूर्ण बात जो ध्यान मे रखने की है, वह यह कि

अपनी शक्ति का उपयोग सत्कृत्य मे करे। देश, समाज तथा आत्मा के कल्याण के लिये अपनी शक्ति को कार्य मे लाए। चोरो-डाकुओ का शक्ति-प्रयोग मनुष्यो के अकल्याण तथा उन्हे पीडा पहुचाने के लिये होता है। उससे न स्वय उनका भला होता है और न ही दूसरो का। यद्यपि अपने साहस व शक्ति मे वे अनेको व्यक्तियो पर धाक जमा लेते है किन्तु उससे उन्हे पाप कर्मो के उपार्जन के सिवाय और क्या आ सकता है ? इससे तो उनका शक्तिहीन होना ही अच्छा है। भगवती सूत्र मे प्रश्न किया गया है—भगवन् ! मनुष्य का सवल होना अच्छा या निर्वल होना अच्छा ? भगवान् ने उत्तर दिया—धार्मिक मनुष्य का सवल होना अच्छा और अधर्मी का निर्बल होना अच्छा।

मनुष्य शक्तिशाली वने किन्तु अपनी शक्ति का प्रयोग स्व-पर की उन्नति मे करे, अवनति मे नही। यदि उसका उद्देश्य अच्छा होता है तो शक्ति का प्रयोग सही माना जाता है। अतएव शक्ति पर नियत्रण रखते हुए मनुष्य को वुद्धिमानी से उसे नेक कार्यो मे लगाना चाहिये।

वुद्धिमानी, मनुष्य के मस्तिष्क की शक्तियो की रक्षा करती है। वुद्धिमानी के विना मनुष्य मूर्ख और डरपोक वना रहता है। वह अपनी शक्ति पहचान नही पाता, न ही उसका उपयोग कर पाता है।

एक आदमी अपने भतीजे के साथ किसी गाव को जा रहा था। रास्ते मे एक चोर मिल गया। चोर ने अपनी लाठी ज़ोर से पृथ्वी पर पटकी और चाचा-भतीजे को धमकाया।

दोनो ही काँपने लगे। उनका धन लूट लिया और चलता वना। चाचा-भतीजा भी अपना-सा मुँह लेकर गाँव मे वापिस आ गए। जव गाँववालो ने यह सुना तो पूछा—भाई कितने चोर आए थे जो तुम जैसे दो पहलवानो को भी लूट कर ले गए।

भतीजा वोला—अरे ! क्या वताएँ—

'हूँ ने काको एकलो, चोर, लाठी ने धमको तीन।'

ये ऐसे डरपोक मनुष्य क्या कर सकते है। निर्वल व्यक्ति कहते है हमारे पास जव साहस नही है तो हम शत्रुओ को परास्त कैसे करें। वे साधनाभाव को अपनी कमजोरी की ढाल वनाते है।

जव राम अयोध्या से चौदह वर्षो के लिये वन को चले थे तो उनके

साथ कौन सा लश्कर था ? जंगली जानवरो तथा राक्षसो से भरे हुए जगलो मे वे निर्भ ीक ही तो विचरण करते रहे थे ।

औ जब रावण ने सीता का अपहरण कर लिया तो महाबली रावण को पराम्न करन मे कितने थे उनके सहायक ? कितना महान् मनोबल था राम मे ? तभी तो कहा है —

विजेतव्या लका, चरणतरणीयो जलनिधि,
विपक्ष पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपय ।
तथाप्येको राम सकलमवधीत् राक्षसकुलम् ।
क्रियासिद्धि सत्वे भवति महताम् नोपकरणे ।।

अकेले राम वानरो की सहायता से समुद्र को पार करके लका को जीत लेते है और सम्पूर्ण राक्षमकुल का सहार कर देते है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि कार्य की सिद्धि अपने ही सत्व के बलपर होती है, साधनो के बल पर नही ।

किसी व्यक्ति मे अगर मनोबल और शारीरिक बल नही है तो उसे बदूक, तलवार और लाठी दे देने पर भी क्या फायदा होगा ? वह उन साधनो का उपयोग नही कर सकेगा ।

वास्तव मे जिसके पास अपनी शक्ति नही होती उसे इन्द्र भी शक्ति नही दे सकता । सच्ची शक्ति आत्मा के अन्दर से आती है, बाहर से नही । आत्मविश्वास शारीरिक शक्ति से भी बढकर है । मनुष्य अपनी शक्ति को तब तक नही समझ सकता जबतक वह इस बात को दृढतापूर्वक हृदयगम न कर ले कि विश्व के महान तत्व का मैं एक अंश हूँ–मैं अनन्त विभुता का अधीश्वर हूँ ।

जो आत्मा को पहचानता है वह आत्मा की अनन्त शक्ति को भी पहचानता है । वैदिकदर्शन मे कहा है—

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्य ।"

जो बलहीन है वह आत्मस्वरूप को कभी प्राप्त नही कर सकता । जैनदर्शन अथवा हमारे सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का एक ही लक्ष्य है 'मुक्ति' । आत्मा से परमात्मा हो जाना, समस्त कर्मबन्धो से छूट जाना ।

जैनदर्शन मे छ. सहनन माने गए है । सहनन का अर्थ है—हड्डियो का

निचय अर्थात् रचना विशेष, छः संघयणों में से एक वज्रऋषभनाराच संहनन होता है। इस संहनन का धनी जो व्यक्ति होता है उसकी हड्डियाँ वज्र की मजबूत होती हैं और वह प्रबलतम शारीरिक शक्ति का स्वामी माना जाता है। 'वज्रऋषभनाराच संहनन' वाला व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त करता है। अगर ऐसा व्यक्ति अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है तो सातवें नरक में जाता है।

कहने का तात्पर्य यही है कि मुक्ति प्राप्त करने के लिये भी साधक में शारीरिक तथा मानसिक दोनों बल होने चाहियें। शारीरिक शक्ति के बलपर व्रत, उपवास, तपश्चरण, यम, नियम आदि साधना के अंगों का यथा-विधि पालन किया जा सकता है और मानसिक शक्ति के बल पर क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ तथा लालच आदि आंतरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है। संक्षेप में यही कि, तन और मन दोनों की शक्तियों के सदुपयोग द्वारा ही सही रूप में साधना की जा सकती है और भव-भ्रमण से छुटकारा पाया जा सकता है।

उन्नति का पाँचवाँ मंत्र है 'बुद्धि'। अभी आपको बताया गया था कि शक्तिशाली मनुष्य ही अपनी शक्ति के द्वारा कर्म-बंधनों को काटकर मुक्त हो सकता है। किन्तु शक्ति का उपयोग सही दिशा में हो, इसके लिये बुद्धि का होना अनिवार्य है। मगर बुद्धि श्रद्धासम्पन्न तथा कषाय की मलीनता से रहित होनी चाहिये। भगवान् ने कहा है कि मनोयोग इतना शक्तिशाली होता है कि वह आत्मा को क्षणभर में मोक्ष पहुँचा सकता है। किन्तु अगर बुद्धि के बिना उसका गलत प्रयोग किया जाए तो सातवें नरक का अतिथि भी बना देता है। बुद्धि के बिना सिर्फ बल से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। कहा भी है—

बुद्धिर्यस्य बलंतस्य
निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्

जिसके पास बुद्धि होती है समझना चाहिये उसके पास ही बल है। निर्बुद्धि के पास बल नहीं होता।

बुद्धिमान् व्यक्ति प्रत्येक कठिनाई में से सहज ही निकल जाता है। उसका चातुर्य प्रत्येक परिस्थिति में अपना मार्ग खोज लेता है। गुजरात में सिद्धपुर नामक एक नगर है। वहाँ सिद्धराज नाम के एक अत्यन्त होशियार व्यक्ति

के नाम पर ही प्रसिद्ध हुआ है ।

सिद्धराज के पिता करणसिंह उसे तीन वर्ष का छोडकर स्वर्गवासी हो गए थे । माता ने अत्यन्त बुद्धिमानी से बालक सिद्धराज को योग्य बनाया । एक बार जब वह बालक ही था, किसी कारण से दिल्ली के बादशाह ने कुपित होकर उसे दरबार मे आने की आज्ञा भेजी ।

सिद्धराज की माता अत्यन्त भयभीत हुई । किन्तु उसने दृढता रखते हुए सिद्धराज को दिल्ली दरबार मे जाने के लिये तैयार कर दिया । जब वह रवाना होने लगा, उसकी माता ने समझाया—बादशाह ऐसा प्रश्न पूछें तो इस प्रकार उत्तर देना और अमुक प्रश्न पूछें तो यह उत्तर देना । अत मे सिद्धराज ने कहा—माँ ! अगर बादशाह इनमे से कोई भी प्रश्न पूछकर कोई अन्य प्रश्न पूछ ले तो ? माता ने उत्तर दिया—बेटा ! तब तुम अपनी बुद्धि से काम लेना ।

माँ का आशीर्वाद लेकर सिद्धराज दिल्ली पहुँचा । बादशाह सख्त नाराज था । उसने बालक के दोनो हाथ पकडकर पूछा—"बतलाओ, अब तुम्हारा रक्षक कौन है ?

सिद्धराज ने सोचा कि माँ के बताए हुए उत्तरो मे से तो एक भी यहाँ काम नही आ सकता । तब उसने अपनी बुद्धि से उत्तर दिया—आप ही तो मेरे रक्षक हैं ।

बादशाह चकराया, बोला—मैं तुम्हारा रक्षक किस प्रकार हूँ ?

सिद्धराज ने नम्रतापूर्वक कहा—जहाँपनाह ! जो व्यक्ति स्त्री का एक हाथ पकडकर लाता है वह जीवन के अन्तिम क्षणो तक उसकी रक्षा करता है । फिर आपने तो मेरे दोनो हाथ पकड लिये हैं । इसलिये अब आपसे बढकर मेरा रक्षक और कौन हो सकता है ?

बादशाह सिद्धराज के बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तर को सुनकर प्रसन्न हो गया और उसे क्षमा कर दिया ।

बुद्धिमान् के लिये इस लोक मे कुछ भी असभव नही है । शारीरिक बल कम होने पर भी अगर मनुष्य के पास बुद्धिबल अधिक होता है तो वह महान्-से-महान् शत्रुओ को भी जीत लेता है ।

बुद्धेर्बुद्धिमता लोके नास्त्यगम्य हि किचन ।
बुद्ध्या यतो हता नन्दाश्चाणक्येनासिपाणय ॥

अर्थात् बुद्धिमानो की बुद्धि के सम्मुख ससार मे कुछ भी असाध्य नही है । बुद्धि मे ही शस्त्रहीन चाणक्य ने सशस्त्र नन्दवश का नाश कर डाला ।

मूर्ख व्यक्ति शक्तिशाली होकर भी जीवन मे कुछ नही कर सकता । तभी कहा जाता है कि बुद्धिमान् मनुष्य का एक दिन मूर्ख के जीवन भर के बराबर होता है—

"A wise man's day is worth a fool's life"

बुद्धिहीन मनुष्य के समक्ष ससारभर के सर्वोत्तम साधन प्रस्तुत कर दिये जायँ तो भी वह उनसे लाभ नही उठा सकता । न तो वह सासारिक क्षेत्र मे ही सफलता प्राप्त कर सकता है और न ही आध्यात्मिक क्षेत्र मे । बुद्धि और विवेक के बिना बाल तपस्या करके शरीर को कष्ट देकर भी मुक्ति प्राप्त नही की जा सकती और न ही शास्त्रो का भडार सामने होने पर लाभ उठाया जा सकता है । कहा गया है—

यस्य नास्ति स्वय प्रज्ञा, शास्त्र तस्य करोति किम् ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पण किं करिष्यति ॥

जिसमे स्वय अपनी बुद्धि नही है उसको शास्त्रो से क्या लाभ ? जैसे नेत्रहीन मनुष्य के लिये दर्पण लाभकारी नही होता उसी प्रकार मूर्ख व्यक्ति भी शास्त्रो से कोई लाभ नही उठा सकता ।

बुद्धिहीन व्यक्ति पग-पग पर मुसीबतो मे फंस जाता है । कभी-कभी तो अपनी मूर्खता के कारण जान से भी हाथ धो बैठता है ।

एक बार एक राहगीर जगल मे से गुजर रहा था । अचानक रास्ते मे उसे एक भालू मिल गया । राहगीर ने अपने बचाव का उपक्रम करते हुए किसी तरह भालू के दोनो कान पकड लिये । इस मुठभेड के कारण राहगीर के कपडे फट गए और उसके पास रहा हुआ सोना तथा सिक्के जमीन पर बिखर गए ।

इतने मे ही एक मूर्ख वहाँ आ पहुँचा । सोना तथा सिक्के बिखरे हुए देखकर उसने राहगीर से पूछा—भाई, मामला क्या है ?

राहगीर बुद्धिमान् था। उसने अपनी जान तथा धन बचाने के लिये बुद्धिमत्तापूर्वक उत्तर दिया— मित्र ! मैं इस भालू के दोनो कान खीच खीच कर इसके मुह से सोना और सिक्के उगलवा रहा हूँ।

मूर्ख के मुह मे सोने को देख पानी आ रहा था। वह लालच मे फस गया और सोना पा लेने के लोभ मे आकर बोला—मुझे भी थोडी देर इसके कान खीच लेने दो।

राहगीर तो यह चाहता ही था। वह बोला—अवश्य मित्र ! तुम भी इसके कान खीचकर सोना उगलवा लो। मगर जल्दबाजी मत करना। भालू बडा पक्का है। काफी देर तक कान खीचने के बाद सोना उगलता है। जब तक यह सोना न उगले कान मत छोडना।

यह कहकर राहगीर ने उस मूर्ख को भालू के दोनो कान कपडा दिये और अपना सोना तथा सिक्के लेकर नौ दो ग्यारह हो गया। इस प्रकार बुद्धिमान् पथिक ने अपनी बुद्धिमानी से प्राण और स्वर्ण दोनो की रक्षा कर ली। कहा भी गया है—

शीघ्रमु-उत्पद्यते बुद्धि, सा बुद्धि फलदा मता।
भालुकर्णौ करे दत्वा, पान्थेन रक्षित हि स्वम् ॥

वास्तव मे परिस्थिति को देखकर तुरन्त जो सूझ-बूझ उत्पन्न हो जाती है वह अत्यन्त फलदायिनी होती है। जिस प्रकार राहगीर ने भालू के दोनो कान मूर्ख मनुष्य को पकडाकर अपनी तथा अपने धन की रक्षा कर ली।

बुद्धि की स्थिरता के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नही होता। मनुष्य के पास बुद्धि का होना सर्वोत्तम बल का होना है। जिसके पास बुद्धि नही उसे निरा बिना सीग और पूँछ का बैल समझना चाहिये। बुद्धिपूर्वक किये जाने वाले कार्य उत्तम फलदाता होते है। केवल बाहुबल के सहारे किये जाने वाले कार्य मध्यम श्रेणी के। बुद्धितत्व दैवी विभूतियो मे एक उच्च कोटि का वरदान है।

मूर्ख व्यक्ति छोटा-सा कार्य आरम्भ करते है। और उसी से व्याकुल हो जाते है, निराश हो जाते हैं और प्राय असफल होते है। किन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति बडे-से-बडा कार्य आरम्भ करके भी निश्चिन्त रहते हैं और सफलता प्राप्त करते हैं। साधना के क्षेत्र मे भी मूर्ख व्यक्ति अनेकानेक कष्ट सहकर भी

शुभफल प्राप्त नहीं करते किन्तु बुद्धिमान् उन सब कष्टो पर विजय प्राप्त करके भव-बन्धनो मे मुक्त हो जाते है।

बधुओ! उन्नति के जो छः मूल मत्र बताए है उनमे अन्तिम पराक्रम है। बुद्धि एक दैवी वरदान है। अनेक मनुष्य बुद्धिमान् होते है किन्तु वे यदि कार्यसिद्धि के लिए पराक्रम का उपयोग न करे तो उनकी बुद्धि भी निष्फल जा सकती है।

तलवार कठोर-से-कठोर वस्तु को काट सकती है, किन्तु अगर कुछ दिनो तक कार्य मे न लिया जाए तो उसपर जग लग जाएगा और वह किसी काम की न रहेगी। इसी प्रकार बुद्धि को सदा निखारा न जाय तो वह प्रमाद के कारण कुठित हो जाएगी। इसलिये बुद्धि के साथ-साथ उत्साह और पराक्रम अत्यन्त आवश्यक है जो कि बुद्धि मे सदा चार चाँद लगाते रहे।

किसी महात्मा का कथन है कि "पराक्रम अमरत्व का मार्ग है।" पराक्रमी कभी मरते नही। इसके विपरीत कायर व्यक्ति जीवित रहकर भी मृतकवत् बने रहते है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे पराक्रम की आवश्यकता होती है। पराक्रमी व्यक्ति जीवन मे कभी हिम्मत नहीं हारता, वह जिस कार्य को आरम्भ करता है उसे पूरा किये बिना चैन नही लेता। कायर व्यक्ति बार-बार कार्यारम्भ करके भी किसी को पूरा नही कर पाता। इसीलिये गाधीजी ने कहा था—मैं कायरता तो किसी भी हालत मे सहन नही कर सकता। मेरे गुजर जाने के बाद कोई यह न कहने पाए कि गाधी ने लोगो को नामर्द बनना सिखाया। अगर आप सोचते है कि मेरी विचारधारा कायरता के बराबर है और उससे कायरता पैदा होगी तो आपको उसे छोड देने मे जरा भी हिचकना नही चाहिये। आप निपट कायरता से मरे, इसकी अपेक्षा आपको बहादुरी से प्रहार खाते हुए मरना मैं कही बेहतर समझूँगा।

अपने सत्य पर दृढतापूर्वक डटे रहना गाधीजी की सबसे बडी शिक्षा थी। चाहे उसके लिये जान भी क्यो न देनी पडे।

आन मे फर्क न आने दीजिये।
जान अगर जाये तो जाने दीजिये॥

मनुष्य को अगार की तरह तेजस्वी और प्रकाशमय बनना चाहिये। राख की तरह निस्तेज और रूक्ष बनकर जीना उसे शोभा नही देता।

जीवन कितना लम्बा है, इसका कोई महत्त्व नही है। महत्त्व तो इस बात का है कि जितने काल तक जीवित रहा जाय पराक्रम और तेजस्वितापूर्वक जिया जाय। पराक्रम जीवन है और कायरता मृत्यु। 'जूलियस सीजर' ने कहा था—

"Cowards die many times befoie their death; but valiant taste death but once."

अर्थात् कायर अपने जीवन-काल मे ही अनेक बार मरता है; वीर पुरुप केवल एक ही बार मरता है।

ससार मे कायरो के लिये कोई स्थान नही होता। प्रत्येक व्यक्ति को कष्ट सहन करते हुए पराक्रमपूर्वक जीवन-यापन करना चाहिये।

कायर व्यक्तियो मे न तो नैतिक वल होता है और न मानसिक वल। उनका हृदय सदा काँपता रहता है। ऐसे साधक साधना-पथ मे आने वाली विघ्न-बाधाओ से सदा भयभीत रहते है। प्रथम तो वे इस दुस्तर मार्ग पर कदम रख ही नही पाते और अगर रखते हैं तो छोटे-छोटे परिषहो से घबराकर तुरन्त उसका त्याग कर देते है।

अज्ञान के कारण वे मृत्यु से भयभीत हो जाते हैं। वे यह नही सोचते कि भयभीत होने पर भी मृत्यु तो अनिवार्य है। अतः एक जन्म की मृत्यु का भय न करके जन्म-जन्म की मृत्यु से छुटकारा पा लिया जाय।

मनुष्य को मुक्ति और सिद्धि पराक्रम के विना नही मिल सकती— "सत्वाधीना हि सिद्धय ।"

मनुष्यभव मे ही विशेष विवेक प्राप्त होता है अत जो व्यक्ति पराक्रमपूर्वक कपायादि विकारो को परास्त कर देते है, इन्द्रियो को जीत लेते है, वे इस मानव-शरीर से ही मुनिपद प्राप्त करके षष्ठ आदि उच्च गुणस्थानो को प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे व्यक्ति तृप्ति के अपूर्व आनन्द का अनुभव करते है और परलोक मे भी परमानन्द प्राप्त कर लेते हैं।

किन्तु जो पराक्रमहीन पुरुष इन्द्रियो को और मन को जीत नही पाते, उलटे स्वयं उनके दास बन जाते है, वे जन्म-जन्मान्तर मे भी ससारभ्रमण से छुटकारा नही पा सकते। उन्हे अनन्तकाल तक जन्म लेना और मरना पड़ता है।

इसलिये जो पुरुष अपने भविष्य का निर्माण करना चाहते है, जीवन को उन्नत बनाना चाहते है, उन्हे पराक्रमपूर्वक उसके निर्माण मे जुटे रहना चाहिये । पराक्रम और उसपर विश्वास दोनो ऐसे सम्बल है जिन्हे साथ लेकर चलने से मार्ग की बाधाएँ स्वय ही दूर हो जाती है । जीवन का उद्देश्य उच्चतर स्थिति का निर्माण करना होना चाहिये । भय सदा उन्नति मे बाधक होता है अतः उसका त्याग करना अनिवार्य है ।

सज्जनो ! आज मैने आपको जीवन को उन्नति की ओर ले जाने वाली छ अनिवार्य बातें बताई है । उन्हे जीवन मे उतारने पर ही आपका जीवन निरन्तर प्रगति की ओर जा सकता है । आप सभी मे अनन्त शक्ति है पर उसे समझने की आवश्यकता है ।

आपको जो कुछ भी आज प्राप्त है उसकी नीव पर अपने जीवन को ऊँचा बनाने का प्रयत्न करिये । कोई कारण नही है कि आप अपने प्रयत्न मे असफल हो । समय का प्रवाह अनवरत बहता है । एक क्षण के लिये भी नही रुकता, लाख प्रयत्न करने पर भी मुडता नही । इसलिये एक क्षण भी व्यर्थ न गँवाकर हमे इसी क्षण से, अविलम्ब, अपने जीवन को सफल तथा उन्नत बनाने का कार्य आरम्भ कर देना चाहिये ।

कार्यारम्भ करने के लिये प्रत्येक पल शुभ मुहूर्त्त है । 'कल' एक राक्षस है जिसने सैकडो प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियो को उदरस्थ कर लिया है । इसके तेज पजे उनकी असख्य योजनाओ का गला घोट चुके है । इसलिये हमे और आपको इसका तिरस्कार करते हुए समर्थ व कर्मठ बनकर दृढतापूर्वक आज ही जीवन की ऊँचाई के उच्चतम शिखर की ओर अग्रसर होना चाहिये ।

हमे विश्वास रखना चाहिये कि अनन्त शक्तियो का स्रोत हममे ही छिपा हुआ है । इसलिये इस स्रोत को न रोककर हमे अनवरत स्वच्छ जल की तरह बहने देना चाहिये । तभी हमारी आत्मा निर्मल होकर परमात्मपद की ओर अग्रसर हो सकेगी ।

[१३]

अद्भुत शक्ति : विनय

प्रत्येक साधक अपनी आत्मा को पवित्र और शुद्ध बनाना चाहता है, क्योंकि आत्मा जब शुद्ध हो जाती है तो हल्की बन जाती है और अपने हलके-पन के कारण ऊची उठ सकती है।

एक तुबी पर अगर हम मिट्टी चढाकर उसे जल मे डाल दें तो जब तक मिट्टी तूंबी पर रहेगी तुबी जल मे डूबी रहेगी किन्तु मिट्टी जब गलकर वह जाएगी तो तुबी अपने हल्केपन के कारण जल के ऊपर आ जाएगी।

आत्मा पर भी राग, द्वेष, क्रोध तथा कपायादि जब हावी हो जाते है तो वह अत्यन्त भारी हो जाती है और कलुपता रूपी मिट्टी उसे अत्यन्त वजन-दार बनाए रखकर भव-सागर मे डुबाये रखती है। किन्तु जब धर्मरूपी जल आत्मा की इन समस्त मलिनताओं को गला देता है तो वह स्वत ऊपर उठने लगती है और परमात्म-रूप हो जाती है।

अब हमे यह विचार करना है कि जिस धर्म-रूप-जल का मैंने उल्लेख किया है वह धर्म क्या है, और उसका आधार क्या है ? तथा किस प्रकार धर्म को अपनाया जा सकता है ?

धर्म अनेक हैं और सभी की मान्यताए भिन्न हैं, किंतु कुछ बातें ऐसी है जिन्हे सभी धर्म एक स्वर से महान् कहते है। विनय भी उनमे से एक है। ससार के सभी धर्म विनय की महत्ता को मानते है तथा उसे धर्म का आवश्यक अग ही नही वरन् धर्म का मूल भी कहते है। जैन धर्म मे विनय को अत्यन्त विराट् रूप दिया गया है, यहाँ तक कि साधना के प्रत्येक आचार-विचार को विनय के अन्तर्गत बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि विनय के बिना कोई आचार-विचार टिक नही सकता और साधक कभी भी अपने साधना-पथ पर अग्रसर नही हो सकता। जिस साधक के हृदय मे विनय नही होता उसके हृदय में धर्म भी अपना स्थान नही बना पाता। धर्म का मूल ही विनय है। जैन शास्त्रो ने विनय की बड़ी महिमा बताई है। कहा है .—

एव धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खे ।
जेण क्त्तिं सुअं सिग्ध, नीसेस चाभिगच्छइ ॥

अर्थात्—विनय धर्म का मूल है और मोक्ष उसका सर्वोत्तम फल है। विनय से कीर्ति वढती है तथा प्रशस्त श्रुतज्ञान का लाभ होता है।

जिस प्रकार जड के विना वृक्ष नही टिकता उसी प्रकार विनय के विना धर्म भी स्थित नही रह सकता। जैसे मूल के द्वारा सम्पूर्ण वृक्ष का पोषण होता है उसी तरह विनय के द्वारा धर्म का आविर्भाव तथा पोषण होता है। अगर पेड की जड निकाल दी जाए अथवा वह सड जाए तो वृक्ष नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार विनय के निकल जाने पर धर्म चला जाता है। इसके दूषित होने पर धर्म भी दूषित हो जाता है। मूल ताजा और हरा-भरा रहे तो वृक्ष फलता-फूलता है तथा हृदय मे विनय जागृत रहे तो धर्म भी कायम रहता है।

जिस मनुष्य के जीवन मे विनय का अभाव होता है उसके अगीकार किये हुए व्रत-नियम भी धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं, जल के विना कमल कायम नही रह सकते। इसके विपरीत, अगर हृदय मे विनय विद्यमान रहता है तो आत्मा का क्रमश उत्थान होता जाता है। किस प्रकार आत्मा का उत्थान होता है और विनय आत्मा को किन-किन श्रेणियो मे से ले जाता हुआ कहाँ तक पहुँचा देता है, यह हमारे आचार्योने अत्यन्त सुन्दर ढग से समझाया है —

विनयफल शुश्रूषा, शुश्रूषाफल श्रुतज्ञानम् ।
ज्ञानस्य फल विरति-र्विरतिफल चाश्रवनिरोध ॥
सवरफल तपोवलमथ तपसो निर्जरा फल इष्टम् ।
तस्मात् क्रियानिवृत्ति क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥
योगनिरोधाद् भवसन्ततिक्षय सततिक्षयान्मोक्ष ।
तस्मात् कल्याणा, सर्वेषा भाजन विनय ॥

अर्थात्—जो साधक विनयवान् होगा वह अपने गुरु की सेवा सम्पूर्ण अन्त करण से करेगा। उस हार्दिक सेवा तथा आज्ञा का पालन करने से उसे श्रुतज्ञान की प्राप्ति सम्यक् रूप से होगी। सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होने से चारित्र की प्राप्ति

होगी और चारित्र की प्राप्ति होनेसे आश्रव नही होगा, यानी नवीन कर्मों के आने का मार्ग वन्द हो जाएगा। दूसरे शब्दो मे सवर होगा । सवर होने से दृढ तपोबल प्राप्त होगा । उस तपोबल के द्वारा पूर्व कर्मो की निर्जरा होती चली जाएगी । और जब पूर्व मे वधे हुए कर्मों का क्षय हो जाएगा तो आत्मा कर्मरहित दशा को प्राप्त कर लेगी । कर्म-रहित दशा अयोगी कहलाती है । उस समय मन, वचन और काय (शरीर) के समस्त व्यापार अवरुद्ध हो जाते है और वह स्थिति प्राप्त हो जाने पर भव-परम्परा नष्ट हो जाती है अर्थात् जन्म और मरण का चक्र समाप्त हो जाता है। जन्म-मरण समाप्त होने पर आत्मा मुक्त हो जाती है । इस प्रकार एक विनय गुण के द्वारा उत्तरोत्तर आत्मा कर्मों के भार से हल्की होती हुई सिद्ध गति को प्राप्त होती है ।

एक पाश्चात्य विद्वान् ने भी विनय को ही ईश्वर की प्राप्ति का एक मात्र साधन माना है । उसने तो यहाँ तक कहा है —

There is but one road to lead us to God,-humility, all other ways, would only lead astry, even were they fenced in with all other virtues"

—Boileam

अर्थात् विनय ही एक ऐसा मार्ग है जो हमे ईश्वर तक पहुँचाता है। अन्य समस्त मार्ग चाहे वे दूसरे अनेक गुणो से युक्त हो, हमे पथभ्रष्ट कर देंगे ।

वास्तव मे विनय एक ऐसा गुण है जिसके कारण मनुष्य झुकता हुआ भी लोगो की दृष्टि मे ऊचा उठता जाता है। इसके विपरीत कोई मनुष्य विद्वत्ता धन-वैभव तथा परिवार आदि की दृष्टि से कितना भी ऊचा क्यो न हो किन्तु विनय गुण से अगर वह रहित है और अहकार से परिपूर्ण है तो लोगो की दृष्टि मे नीचा होता जाता है, गिरता जाता और अत मे कष्ट पाता है । बडे विशाल और ऊचे पेड, जो झुक नही सकते, पवन का प्रकोप होते ही उखडकर गिर जाते हैं किंतु अधड आते ही छोटा सा घास का पौधा जो झुक जाता है, अपनी नम्रता के कारण आत्मरक्षा कर लेता है ।

विनयी पुरुप ही जन-समाज का मार्ग-दर्शक होता है तथा धर्मरक्षक भी । महात्मा आगस्टाइन से किसी से एक वार पूछा कि धर्म का सर्व-प्रथम एव मुख्य लक्षण कौनसा है ?

आगस्टाइन ने अविलम्व उत्तर दिया—धर्म का पहला, दूसरा, तीसरा और अधिक क्या कहू सभी लक्षण सिर्फ विनय गुण मे ही निहित है।

बधुओ! इस कथन से आप यह न समझें कि सिर्फ धर्माराधन मे ही विनय-गुण आवश्यक है। वह तो आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनो क्षेत्रो मे आवश्यक और लाभकारी है। इसीलिए शास्त्रो ने विनय के कुछ विभिन्न रूप वताए हैं। यथा —ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय, मन-विनय, वचन-विनय कायविनय और लोकव्यवहार-विनय।

इनमे सर्वप्रथम है 'ज्ञान विनय'। प्रत्येक ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक साधक को ज्ञान का माहात्म्य समझ कर उसपर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञानाराधक के लिये दो वातो का ध्यान रखना आवश्यक है। प्रथम तो यह कि वह ज्ञान के समस्त साधनो का सम्मान करे। भगवान् के वचनो पर तथा शास्त्रो पर पूर्ण विश्वास रखे। शास्त्र मनुष्य की आत्मा के नेत्र हैं जिनके द्वारा वह अपने हित और अहित को देखता है, उनका विवेक प्राप्त करता है। हितोपदेश मे कहा गया है —"**सर्वस्य लोचन शास्त्र यस्य नास्त्यध एव स।**" शास्त्र सवके लिए नेत्र के समान है। जिसे शास्त्र का ज्ञान नही होता वह अन्धे के समान है।

दूसरी वात ध्यान मे रखने की यह होती है कि शास्त्रो का ज्ञान तथा आत्म-कल्याणकारी अन्य समस्त विषयो का ज्ञान गुरु से प्राप्त किया जाता है। अत साधक अत्यन्त नम्रतापूर्वक गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए उनसे ज्ञान प्राप्त करे। गुरु का महत्त्व जीवन मे माता-पिता से भी अधिक होता है। माता-पिता सतान को जन्म देते है, उसका यथोचित पालन-पोषण करते हैं। किन्तु मानव-जन्म का फल, जो अत मे मुक्ति प्राप्त करना होता है, उसका मार्ग तो गुरु ही वताते है। कवीर ने तो गुरु को ईश्वर से भी वढकर माना है, यह वताते हुए कि ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग गुरु ही वताते हैं। उन्होने कहा है :—

गुरु साहव दोनो खडे काके लागूं पांय ?
वलिहारी गुरु आपकी जिन साहव दियो वताय ॥

साराश यही है कि जिस दिव्य-ज्ञान को प्राप्त करके साधक दिव्य-दृष्टि प्राप्त करता है वह गुरु से प्राप्त होता है। अत गुरु का अत्यन्त सम्मान करते

हुए उसे ज्ञान-लाभ करना चाहिये। गुरु की अवज्ञा, निंदा तथा अनादर करने वाला शिष्य कभी भी सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नही कर सकता। अविनीत शिष्य गुरु को अप्रसन्न कर देते हैं, परिणामस्वरूप गुरु अपने सर्वान्ति करण से शिष्य को ज्ञान-दान नही दे पाते। कहा गया है —

रमए पडिए सास, हयं भद्द व वाहए।
बाल सम्मइ सासतो, गलिअस्स व वाहए॥

—उत्तराध्ययन अ १ गा ३७

अर्थात् जिस प्रकार उत्तम घोडे का शिक्षक प्रसन्न होता है उसी प्रकार विनीत शिष्य को ज्ञान देने मे गुरु भी प्रसन्न होते है। उद्द ड घोडे का शिक्षक और अविनीत शिष्य के गुरु, दोनो ही अत्यन्त दुखी होते हैं।

इसलिए साधक को विनयपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। ज्ञान वह अग्नि है जिसके सुलगते ही समस्त कर्म भस्म हो जाते हैं। एक विद्वान् ने कहा है—

Knowledge is the wing where with we fly to heaven

अर्थात् ज्ञान वह पख है जिसके द्वारा हम स्वर्ग की ओर उडते है।

विनय का दूसरा रूप 'दर्शन विनय' है। इसका आशय है अपने सम्यग्-दर्शन को निर्मल रखना, उसमे अतिचार न लगने देना, सम्यग्दृष्टि पुरुषो का यथायोग्य सत्कार-सम्मान करना और यथोचित सेवा-भक्ति करके उन्हे प्रसन्न करना।

महान् पुरुषो के प्रति विनय होने से जीवन मे सरलता आती है और हृदय पवित्र वनता है। इसके विरुद्ध महापुरुषो की निंदा अथवा भर्त्सना करने से आत्मा मलिन होती है और कभी-कभी स्वय भी निंदा का पात्र वनकर लज्जित होना पडता है। जिसमे नम्रता नही होती वह शीघ्र उत्तेजित होकर औचित्य को भूल जाता है और अनुचित भापा का प्रयोग करता है।

एक ब्राह्मण गौतम बुद्ध से दीक्षा लेकर भिक्षु वन गया। ब्राह्मण का एक सवधी इससे वहुत नाराज हुआ। वह बुद्ध के पास गया और उन्हे गालियाँ देने लगा। जव वह गालियाँ देकर चुप हुआ तो तथागत ने उससे पूछा—क्यो वन्धु! तुम्हारे घर कभी अतिथि आते है? और आते हैं तो तुम उनका

सत्कार करते हो या नही ?

व्यक्ति क्रोधपूर्वक बोला—अतिथि का सत्कार कौन मूर्ख नही करता होगा। मैं तो करता ही हूँ।

बुद्ध ने अत्यन्त प्रेमपूर्वक फिर कहा—मान लो तुम्हारी दी हुई वस्तुए अतिथि स्वीकार न करे तो वे कहाँ जाएगी ?

ब्राह्मण ने उत्तर दिया—जाएगी कहाँ ? अतिथि नही लेगा तो वे मेरे पास ही रहेगी।

तथागत ने अब कहा—तो भद्र ! तुम्हारी दी हुई गालियाँ भी मैं स्वीकार नही करता। यह सुनकर ब्राह्मण अन्यत लज्जित हुआ और मस्तक झुका कर चुपचाप वहाँ से चला गया।

कहने का अर्थ यही है कि अगर ब्राह्मण मे विनयशीलता होती तो वह गालियाँ देकर बुद्ध को अपमानित नही करता और अत मे स्वय भी लज्जित होना नही पडता। महापुरुषो की सगति और सेवा का प्रभाव जोवन को बदल देता है, अगर मनुष्य की आकाक्षा जीवन को बनाने की हो।

किसी व्यक्ति ने गुरुदत्त विद्यार्थी से एक बार कहा—आप स्वामी दयानन्द सरस्वती के सपर्क मे वहुत दिनो तक रहे हैं तो क्यो नही उनका जीवन-चरित्र लिख डालते ?

विद्यर्थीजी ने उत्तर दिया—मैं उनका जीवन-चरित्र लिखने की कोशिश कर रहा हूँ।

व्यक्ति ने प्रसन्न होकर कहा—अच्छा ! कवतक पूरा हो पाएगा वह ?

गुरुदत्त जी ने कहा - उनका जीवन-चरित्र कागज पर नही किन्तु अपने स्वभाव मे अकित करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

कितनी सुन्दर भावना है ! विनय का यही फल होना चाहिये कि हम जिसे अपना आदर्श मानते हैं उसके जीवन का अनुकरण करे। सेवा शुश्रूषा तथा कोरी प्रशसा ही मनुष्य को क्या लाभ पहुँचा सकती है ?

विनय का तीसरा रूप 'चारित्र विनय' है। स्वय चारित्रनिष्ठ बनना, निर्दोष चारित्र का पालन करना एवं चारित्रनिष्ठ महापुरुषो के प्रति अत्यन्त श्रद्धा, सम्मान तथा सेवा की भावना रखना चारित्रविनय है। साधना के

इच्छुक व्यक्ति को सर्वप्रथम अपना आचार-विचार अत्यन्त शुद्ध बनाना चाहिये। इसकी शिक्षा आचारनिष्ठ व्यक्तियो के द्वारा प्राप्त होती है।

कोई मनुष्य कितना भी ज्ञान प्राप्त कर ले, शास्त्रो का अध्ययन कर ले किन्तु जो अपने ज्ञान के अनुसार आचरण नही करता है वस्तुत वह विद्वान् नही माना जा सकता। मनुष्य का सच्चा परिचय उसका आचरण ही होता है। कहा भी है—

कुलीनमकुलीन वा वीर पुरुषमानिनम्।
चारित्र्यमेव व्याख्याति शुचि वा यदि वाशुचिम्॥

—वाल्मीकि

अर्थात् मनुष्य का आचरण ही यह बताता है कि वह कुलीन है या अकुलीन, वीर है या कायर, और पवित्र है या अपवित्र।

तात्पर्य यह कि सदाचार ही मानव-जीवन की सुगन्ध है, जिसके बिना जीवन का कोई मूल्य नही होता। मनुष्य पद-पद पर लाछित, अपमानित और घृणित बन जाता है। शरीर की सुन्दरता का सुन्दर आचरण के बिना कोई मूल्य नही होता। कहा जाता है कि, A beautiful behaviour is better than a beautiful form यानी, सुन्दर आचरण सुन्दर आकृति से अच्छा है।

जैसे तलवार की कीमत उसकी म्यान से नही होती, उसी प्रकार मनुष्यजीवन की कीमत मनुष्य के शरीर से नही होती। तलवार का मूल्य उसके पानी से होता है और मनुष्यजीवन का मूल्य सदाचार से। मनुष्य के पास धन, वैभव, सौन्दर्य आदि सब कुछ हो किन्तु सदाचार न हो तो समझना चाहिये कि उसके पास कुछ भी नही है।

ससार मे जितने भी महापुरुष हुए है वे अपने चरित्र की उत्तमता से ही महापुरुष माने गए है। भविष्य मे जो महान् माने जाएगे वे भी चारित्र की उत्तमता से ही माने जाएगे। इसमे तनिक भी सन्देह नही है। सूत्रकृताग सूत्र मे कहा है—

अभविसु पुरा वि भिक्खवो,
आएसा वि भवति सुव्वता।

एमाइं गुणाइं आहु ते,
कासवस्स अणुधम्म चारिणो ।।

सूयगडाग, २-३-२०

अर्थात् जो जिनेश्वर पहले हो चुके हैं और जो भविष्य मे होगे वे सब सुव्रती (सदाचारी) थे। सुव्रती ही जिनेश्वर हुए और होगे। क्योकि वे काश्यप भगवान् यानी महावीर स्वामी के धर्म का आचरण करते थे।

सम्यक्चारित्र के अभाव मे कोरा ज्ञान भाररूप होता है 'ज्ञान भार. क्रिया विना।' नेत्रो से सर्प को देख लिया जाय और उसे विषैला समझ लिया जाय किन्तु उससे बचने का प्रयत्न न किया जाए तो देखना और जानना किस काम आया ? औषधि के ज्ञान मात्र से आरोग्यता प्राप्त नही होती जब तक उसका सेवन न किया जाय। अतएव ज्ञान के साथ आचरण आवश्यक है।

प्रत्येक मोक्षाभिलाषी को अपनी मजिल तक पहुँचने के लिये साधना रूपी मार्ग का ज्ञान होना आवश्यक है किन्तु मार्ग को जान लेने मात्र से ही तो लक्ष्य तक नही पहुचा जा सकता। वहाँ तक पहुचने के लिये उस मार्ग पर चलना भी पडेगा। मनु महाराज ने भी सदाचार की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिता प्रजा ।
आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ।।

—मनुस्मृति (४, १५६ ७)

सदाचार से दीर्घायु की प्राप्ति होती है। सदाचारी की सन्तान भी सदाचारी होती है। सदाचार से अक्षय धन की प्राप्ति होती है और अलक्षण से उत्पन्न होने वाले अनिष्ट को भी सदाचार नष्ट कर देता है।

वस्तुत सदाचार की महिमा सर्वत्र गाई गई है और इसे ही प्रथम धर्म (आचार प्रथमो धर्म) माना गया है। इसलिये मनुष्य को चारित्र-विनय अपनाते हुए अपने आचरण को अत्यन्त श्रेष्ठ बनाना चाहिये। चारित्रनिष्ठ व्यक्तियो की सगति करते हुए उन महापुरुषो के प्रति पूर्ण आदरभाव रखना चाहिये जिससे आचरण उत्तम तथा पवित्र बन सके।

'चारित्रविनय' के पश्चात् 'मन-विनय' का स्थान है। मन-विनय का

तात्पर्य है, मन मे विनयभाव रखना तथा उसे अत्यन्त पवित्र बनाने का प्रयत्न करना। राग-द्वेष आदि विकारो की कलुषता से मन को अपवित्र न होने देना तथा जिससे मन के विकारयुक्त बन जाने की सम्भावना हो ऐसे वातावरण से अलग रहना। यह सब मन विनय है। मन का स्वभाव है कि वह जैसी सगति मे रहता है, उसे जैसा वातावरण मिलता है, उसके अनुसार ही वह रूप धारण कर लेता है और वैसी ही मन की भावनाए बन जाती हैं। कवि सुन्दरदास जी कहते हैं—

जो मन नारी की ओर निहारत,
तो मन होत है ताही को रूपा।
जो मन काहू से क्रोध करे तब,
क्रोधमयी हो जाय औ रूपा॥
जो मन माया ही माया रटे,
नित मन बूडत माया के कूपा।
सुन्दर जो मन ब्रह्म विचारत,
तो मन होत है ब्रह्म सरूपा॥

बधुओ! आशय आप समझ गए होगे। मनुष्य जो कुछ देखता है, जैसी सगति मे रहता है और जो कुछ सोचता है उसी तरह का बन जाता है। 'चारित्र विनय' के अन्तर्गत मैंने अभी अभी आपको इसीलिये चारित्रनिष्ठ महापुरुषो की सगति करने, उनके प्रति आदर तथा श्रद्धा रखने के लिये कहा था। जीवन को उच्च, पवित्र तथा समतामय बनाने के लिये इन्द्रियो को वश मे करना आवश्यक है। मन उन सबका नेता है। अत उसे वश मे करना मनुष्य का दुस्तर कार्य है। किन्तु जब तक मन वश मे नही होगा, इन्द्रियाँ भी वश मे नही हो सकती। किन्तु मन वश मे हो जाता है तो सभी आत्मिक शत्रुओं को वश मे किया जा सकता है। शास्त्र मे कहा भी है—

एगे जिए जिया पच, पच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताण, सव्वसत्तू जिणामह॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, (२३-३६)

अर्थात् एक मन को जीत लेने पर पाँच इन्द्रियो को जीत लिया जाता है और पाँचो इन्द्रियो को जीत लेने पर दस (एक मन पाँच इन्द्रियाँ तथा चार

कषाय) जीत लिये जाते है। और इन दसो को जिसने जीत लिया उसने मानो सभी आत्मिक शत्रुओं को जीत लिया।

शरीर से जो धर्मकृत्य किया जाता है उसके साथ मन भी उसी प्रकार का होना आवश्यक है। उसके सहयोग के बिना सुन्दर आचरण और कार्य निरर्थक हो जाते है। क्योंकि पापो का मूल वस्तुत मन ही है। मन मे वासनाए और पाप होने पर और उसके अनुसार क्रियाए न होने पर बाहर की क्रिया दिखावा मात्र रह जाती है।

मन की अवस्था के कारण ही एक मनुष्य सज्जन कहलाता है और दूसरा दुर्जन। जिसका मन सद्गुणो से भरा हुआ है और विकारो से रहित है उसे तीव्र तपस्या तथा उत्कट साधना की भी आवश्यकता नही होती। वह मानसिक शुद्धि के सहारे अपने उच्च लक्ष्य की ओर बढता जाता है। किन्तु जब तक मन चचल और विकारो से परिपूर्ण रहता है तब तक मनुष्य किसी उत्तम फल को प्राप्त नही कर सकता। जो मनुष्य अपने मन को वश मे कर लेता है उसका मन कैसी भी विपत्ति या कठिनाइयाँ क्यो न आए कभी विचलित नही होता। मारणातिक कष्ट होने पर भी वह समभाव मे स्थिर रहता है और कष्ट देने वाले को क्षमा कर देता है।

कहते है—सुकरात बडे सत्ययक्त और स्पष्टवक्ता थे। एक बार उनकी स्पष्टवादिता पर किसी ने उन्हे पीट दिया किन्तु सुकरात के चेहरे पर शिकन भी नही आई। एक व्यक्ति ने चकित होकर कहा—आप मार खाकर भी चुप रह गए?

सुकरात ने जवाब दिया—अगर गधा मुझे लात मारे तो क्या मैं भी उसे लात मारू?

स्वामी दयानन्द को किसी ने विष दे दिया। उनके मुसलमान भक्त सैयद मुहम्मद तहसीलदार को जब इस बात का पता चला तो उसने जहर देने वाले को पकड मगाया। दयानन्द के पास उसे लाया गया तो उन्होने कहा—इसे छोड दो। मै दुनिया मे लोगो को कैद कराने नही, छुडाने आया हू।

इन उदाहरणो से मालूम हो जाता है कि जो महापुरुष मन को वश मे कर लेते है उनके मन से वैर-विरोध तथा क्रोध कषायादि दूर हो जाते है। सारा ससार उन्हें आत्मवत् दिखलाई देने लगता है। वह मन की शुद्धि का

ही चमत्कार है। मन के पवित्र होने पर आचरण मे भी पवित्रता आ जाती है। इसलिये विनय, चारित्र और मन दोनो क्षेत्रो मे होना चाहिये। शरीर और मन दोनो ही एक-दूसरे के सहायक है और प्राय साथ-साथ ही पाप तथा पुण्य कर्मों के निमित्त बनते है। एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है।

कहते है—एक बार शरीर और मन मे बहस छिड गई। शरीर क्रोध से आग बबूला होकर बोला—मैं तो जड हू, मिट्टी का पिण्ड मात्र, मोह पैदा करने वाली चीजो को देख भी नही सकता। भला मैं पाप कैसे कर सकता हू ?

मन पीछे क्यो रहता। वह भी तमक कर बोला— मेरे पास पाप करने के साधन ही नही है, मै पाप कैसे कर सकता हू ? इन्द्रियो के बिना भी क्या कोई कार्य हो सकता है ?

जब भगवान् ने यह सब सुना तो वे मुसकरा दिये और बोले—ठीक है, तुम दोनो अलग अलग रहकर पाप नही करते किन्तु दोनो मिलकर पाप करते हो अत दोनो ही बराबर जिम्मेदार हो ! शरीर के कधो पर जब मन चढ बैठता है तब दोनो के सहयोग से पाप का जन्म होता है। मन शरीर को चलाता है और शरीर मन को सतुष्ट करता है।

इसीलिये कहते है कि आध्यात्मिक साधना करने वाले को सतत अभ्यास के द्वारा मन की गति का सूक्ष्म अवलोकन करते हुए अत्यन्त सावधानी से उसपर विजय प्राप्त करनी चाहिये। मन को विषय-विकारो से विमुख करके उसे पवित्र बनाने का यत्न करना चाहिये। मन की गति अत्यन्त तीव्र होती है और उसे जिधर लगाया जाए उधर ही तेजी से भागता है। इसलिये इसे सन्मार्ग की ओर उन्मुख करना चाहिये, तभी यह सही शुभ फल प्रदान कर सकता है। उसके द्वारा शुभ और अशुभ दोनो ही आचरण किये जा सकते हैं। कहा भी है—

कबिरा मन तो एक है, भावे तहा लगाय।
भावे हरि की भक्ति कर, भावे विषय कमाय ॥

अब हम देखेंगे कि 'वचन-विनय' क्या है ? वचन मे विनय होने का आशय है—अप्रिय, कटुक कठोर तथा मिथ्या वचनो का परित्याग करना और हितकारी सत्य तथा मधुर वचनो का उच्चारण करना। वचन सत्य होने पर

भी उसमे कटुता नही होनी चाहिये। मधुर वचनो का प्रभाव कभी-कभी बडे चामत्कारिक ढंग से वातावरण मे परिवर्तन ला देता है। मनुष्य मरते-मरते भी जीवन पा जाता है।

कहते है एक बार यूनान के बादशाह बीमार पड गए। कोई भी इलाज उन्हे लागू नही हुआ। अन्त मे कुछ हकीमो ने मिलकर यह निर्णय दिया कि अमुक-अमुक लक्षणो वाले व्यक्ति का कलेजा मिले तो बादशाह की जान बचाई जा सकती है।

राज-कर्मचारी चारो ओर दौडाए गए और वे अत मे एक लडके को ढूंढ कर ले आए। लडके के माता-पिता बडे गरीब थे। उन्होने काफी धन लेकर अपने पुत्र को बलिदान के लिये दे दिया। शहर के काजी ने भी कह दिया कि बादशाह की जान बचाने के लिये किसी की भी जान लेना गुनाह नही है।

लडका बादशाह के सामने लाया गया। हकीमो ने अपनी तैयारियाँ कर ली और फिर जल्लाद ने तलवार उठाई। अचानक उसी समय लडका आसमान की तरफ देखकर हंस पडा। बादशाह ने यह देखा तो चकित हुए और इशारे से जल्लाद को रोकते हुए उन्होने लडके से पूछा—लडके ! तुम हसे क्यो ?

लडका विनयपूर्वक बोला—जहाँपनाह, सन्तान के लिये प्राणो की भी परवाह न करने वाले माता-पिता ने मुझे मारे जाने के लिये बेच दिया। काजी ने भी जो न्यायमूर्ति कहलाते है, एक बे-गुनाह को मारे जाने का फतवा दे दिया। प्रजा के रक्षक बादशाह अपने सामने ही एक निर्दोष बालक की हत्या करवा रहे है। यह सब देखकर अब मैं संसार के मालिक की ओर देख कर हसा कि—भगवन् ! ससार की लीला तो देख ली ! अब तेरी लीला देखनी है कि जल्लाद की इस उठी हुई तलवार मे मेरे वध को तू भी सही मानता है क्या ?

बच्चे के विनययुक्त और माधुर्य से भरे हुए वचनो को सुनकर बादशाह की आंखे खुल गई। उन्होने बालक को हृदय से लगाते हुए कहा—बेटे ! अब यह तलवार तेरे जिस्म पर नही उठेगी।

कहा जाता है कि बादशाह के हृदय मे इस घटना की ऐसी प्रतिक्रिया

हुई, ऐसे माधुर्य मे उसका हृदय आप्लावित हो गया कि वह बिना दवा के ही बिलकुल स्वस्थ हो गया।

मधुर वचन इतने प्रभावशाली होते है कि वे दुश्मन को भी मित्र बना लेते है। जीवन लेने वाले को जीवन-दाता बना देते है। इसके विपरीत कटु-वचन घर मे, परिवार मे, समाज मे, राष्ट्र मे वैर-विरोध उत्पन्न कर देते है। वाणी के उस अद्भुत प्रभाव को कवि सुन्दरदास ने बडे सुन्दर ढग से समझाया है —

वचन तें गुरु-शिष्य बाप पूत प्यारो होय,।
वचन तें बहुविधि होत उत्पात हैं।
वचन तें नारी औ पुरुष मे नेह अति
वचन तें दौड आप आप मे रिसात है।
वचन तें सब आय राजा के हजूर होएँ
वचन तें चाकर हू छोड़ के पलात हैं।
सुन्दर सुवचन सुनत अति सुख होय
कुवचन सुनत ही प्रीति घट जात है।।

ऐसा होता है वचनो का चमत्कार! वचन के अद्भुत कारनामो का वर्णन करना बडा कठिन है। इनके द्वारा सारे ससार को पक्ष मे अथवा विपक्ष मे किया जा सकता है। नम्रता और विनयपूर्ण वचन मनुष्य को जीती-जागती प्रेम और दया की प्रतिमा बना देते है। और क्रोध तथा अहकार युक्त वचन मनुष्य को क्रूर तथा हृदयहीन की उपाधि प्राप्त कराते है। परिणाम यह होता है कि ऐसे व्यक्ति का प्रत्येक कार्य और साधना खोखली और सिर्फ दिखावे मात्र की ही रह जाती है। गर्वपूर्ण साधना से शुभ फल की प्राप्ति नही हो सकती। गर्व साधना को भी निष्फल बना देता है।

हाजी मुहम्मद एक मुसलमान सन्त थे। वे साठ बार हज करके आए थे और हमेशा पाँचो वक्त की नमाज़ पढा करते थे। एक दिन उन्होने एक स्वप्न देखा कि एक फरिश्ता स्वर्ग तथा नरक के बीच मे खडा है और वह प्राणियो को उनके कर्मानुसार स्वर्ग तथा नरक की ओर भेज रहा है।

जब हाजी मुहम्मद उसके सामने पहुँचे तो इन्हे नरक की ओर जाने

के लिए अगुली से इशारा कर दिया। हाजी मुहम्मद को बुरा लगा। उन्होने फरिश्ते से कहा—'मैंने साठ बार हज किया है।'

फरिश्ते ने कहा—सच है किन्तु अपना नाम पूछे जाने पर तुम बडे गर्व से कहते रहे हो कि 'मै हाजी मुहम्मद हूँ।' इसलिये तुम्हारा हज करने का समस्त पुण्य नष्ट हो गया।

हाजी मुहम्मद ने फिर कहा—'मैं साठ साल मे पाँचो वक्त की नमाज पढता रहा हूँ।'

फरिश्ता बोला—तुम्हारा वह पुण्य भी नष्ट हो गया क्योकि एक बाहर के धर्म जिज्ञासु तुम्हारे पास आए थे। उस दिन तुमने उन्हे दिखाने के लिये और दिनो से भी बहुत ज्यादा देर तक नमाज पढी थी। इस दिखावे के कारण तुम्हारा साठ वर्ष तक पाँचो वक्त नमाज पढना भी निष्फल हो गया।

उसी समय हाजी मुहम्मद की आँख खुल गई और उन्होने गर्व तथा दिखावे को सदा के लिये छोड दिया।

सज्जनो! आशय यह है कि अहकारयुक्त वचनो की तनिक-सी मात्रा भी पुण्य-फल को नष्ट कर देती है। इसीलिये साधक या गृहस्थ कोई भी हो उसे गर्व न रखकर विनयभाव रखना परमावश्यक है। कहा भी है—

"It was pride that changed angels into devils, it is humility that markes men as angels" (अभिमान के कारण देवतादानव बन जाते है और नम्रता से दानवदेवता)

—आगस्टाइन

विनय का एक भेद 'काय-विनय' है। काय-विनय का अर्थ है शरीर से कोई भी पाप क्रिया न करना। मनुष्यशरीर, जीव को अनेकानेक पुण्यकर्मो के उदय से मिलता है। उसके द्वारा खोटी क्रियाएँ करना शरीर का दुरुपयोग करना है। इसके विपरीत सत्कार्यो मे इसे प्रवृत्त करना शरीर का सदुपयोग है।

सभी धर्म-कर्मो के लिये शरीर ही सबसे पहला साधन है।—"शरीर-माद्यं खलु धर्मसाधनम्।" शरीर के द्वारा ही समस्त शुभ क्रियाएँ, साधना

और तपस्या की जाती है। इसलिये इन्द्रियो को वश मे रखना मनुष्य का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। मनुष्य शरीर इस भव-समुद्र से पार होने के लिये एक नौका के समान है। इसके द्वारा ही भवसागर पार किया जा सकता है। तात्पर्य यही है कि मोक्ष प्राप्ति के लिये जो कुछ भी किया जाता है वह सब शरीर के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। गाधीजी ने शरीर को आत्मा के रहने की जगह होने के कारण तीर्थ माना है पाश्चात्य विद्वान् 'नावालिस' ने कहा है—

"विश्व मे केवल एक ही मन्दिर है और वह है मनुष्य-शरीर। इससे अधिक पवित्र और कोई स्थान नही है।"

आशय यही है कि इस शरीर रूपी मन्दिर मे ही परमात्मा का निवास है, अत इमे कुकृत्यो के द्वारा कुविचारो के द्वारा तथा दुराचरणो के द्वारा अपवित्र बनाना मनुष्य के लिये कलक है। इस पवित्र शरीर के द्वारा कुचेष्टाएँ करने से शरीर-प्राप्ति का लाभ नही मिलता, उलटे जन्म-मरण की परम्परा लम्बी हो जाती है। कर्मो का बध अधिक मात्रा मे होता है। परिणामस्वरूप आत्मा भव-सागर के भँवर मे डूबती उतरती रहती है, उवर नही पाती।

इसलिये प्रत्येक साधक को शरीर के द्वारा सच्ची साधना और तप करके कर्मों का क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिये, न कि कर्मों को अधिक बढाने का।

सच्ची साधना और तप वही कहलाता है जो गर्वरहित होकर विनय-पूर्वक किया जाए। कहा भी गया है—

विनयेन विना चीर्णम्-अभिमानेन संयुतम्।
महच्चापि तपो व्यर्थम् इत्येतदवधार्यताम्॥

अर्थात् यह समझ लेना चाहिये कि विनय के विना और अभिमान के साथ किया हुआ महान् तप भी व्यर्थ ही होता है।

सदाचारी और सच्चे तपस्वी के आगे देवता और इन्द्र को भी नत-मस्तक होना पडता है। एक छोटी-सी लोक-कथा है—

एक बार नारद ऋषि द्वारिका नगरी मे आए। वे नगरी मे घूम-घाम कर कृष्ण के महल मे भी पहुँचे। महल मे कृष्ण न मिले तो उन्होंने अतःपुर

मे प्रवेश किया। उन्हे कोई रोक-टोक तो थी नही, सीधे अन्दर चले गए। किन्तु वहाँ भी कृष्ण दिखाई नही दिये तो उन्होने रुक्मिणी से पूछा—कृष्ण है कहाँ ?

रुक्मिणी ने उत्तर दिया—"पूजा मे बैठे है।"

यह सुनकर नारदजी बडे चकित हुए। सोचने लगे कि त्रिभुवन के ऋषि, मुनि, सत, सिद्ध, योगी, त्यागी और भोगी सभी भगवान मानकर जिनकी पूजा करते है, वह कृष्ण किसकी पूजा कर रहे है ? यह जानने के लिये वे कृष्ण महाराज के देव-गृह मे पहुँचे।

वहाँ जाकर देखा कि कृष्ण अपने सच्चे भक्तो की मूर्तियो के सामने ध्यानावस्था मे बैठे हुए हैं !

कितनी प्रभावोत्पादक दत-कथा है !

जो महापुरुष काम-भोगो से दूर रहकर साधना करते है उनके लिये क्या दुष्प्राप्य है ? कुछ नही। इन्द्रियो के विषयो से विरत रहकर जो शीलवान् पुरुष अपने व्रत का पालन दृढ होकर करते हैं वे असाध्य को भी साध्य बनाने की शक्ति प्राप्त कर लेते है।

सेठ सुदर्शन के शील के प्रभाव से, उन्हे जब शूली पर चढाया जाने लगा तो शूली सिंहासन बन गई। कितना माहात्म्य है शील का ? शीलव्रत तो ललकारते हुए स्वय कहता है—

शील कहे मम राखत जे, तिनकी रछिया तिन देव करेंगे।
जे मम त्याग कुबुद्धि करें, तिन देव कुपे तिन सुक्ख हरेंगे॥
ठौर नहीं तिन लोक विखे, दु ख शोक अनेक सदैव धरेंगे।
जारत हैं तिन्हि ताप तिन्हि मम धारत आरत सिन्धु तरेंगे॥

कितनी सत्य और सुन्दर महिमा है। शील कहता है कि जो पुरुष मेरी रक्षा करेगा, उसकी रक्षा देवता करेंगे। किन्तु जो दुर्बुद्धि के वशीभूत होकर मेरा त्याग करेंगे उनपर देवता कुपित होगे और उनका सारा सुख नष्ट कर देंगे। उन्हे संसार मे कही भी ठौर-ठिकाना नही मिलेगा और दु ख तथा शोक उनके हृदयो को निरन्तर दुखाते रहेगे। तीन तापो (आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक) की आग भी उन्हे सदा दग्ध करती रहेगी।

पर इसके विपरीत जो मनुष्य मुझे धारण करेंगे, वे समस्त दु खो के सागर को सरलतापूर्वक पार कर लेंगे ।

विवेकशून्य पुरुप अपने शरीर और इन्द्रियो को वश मे न रखकर मन की वहक के अनुसार ही शरीर को चलाते है । परिणाम यह होता है कि उन्हे वारबार नाना प्रकार के शरीरो को धारण करना पडता है और पुनः पुन जन्म और मृत्यु का दारुण दु ख भोगना पडता है ।

विनय का अन्तिम स्वरूप, 'लोकव्यवहार विनय' है । मनुष्य जव तक ससार मे शरीर धारण किये हुए रहता है, तव तक उसे अन्य प्राणियो से सपर्क रखना आवश्यक होता है । माता-पिता, गुरु, बन्धु-बान्धव, मित्र, हितैषी और अन्य सभी व्यक्ति जो भी समयानुसार सम्पर्क मे आते है उन सवके साथ विनयपूर्ण व्यवहार आवश्यक है । अपने से वडो के प्रति जव व्यवहार करना होता है तो विनय आदर तथा श्रद्धा के रूप मे आ जाता है और अपने से छोटो के प्रति जब व्यवहार किया जाता है तो विनय वात्सल्य और प्रेम का रूप धारण कर लेता है ।

विनयवान् व्यक्ति कभी दूसरो का अपकार करने का प्रयत्न नही करता । जहाँ तक उसकी शक्ति होती है वह भरसक दूसरो का उपकार करना चाहता है । साथ ही दूसरे जव उसका उपकार करते है तो वह उपकार को मानते हुए कृतज्ञता का भाव रखता है । जो व्यक्ति अभिमानवश किसी के किये गए उपकार को उपकार नही मानता वह मानवता के प्रति विश्वासघात करता है । और जो किसी व्यक्ति के उपकार के बदले अपकार करता है वह पापी और नीचो की श्रेणी मे आता है । एक दार्शनिक ने कहा है—

"Not to return one good office for another is inhuman, but to return evil for good is diabolical"

सेनेका —

अर्थात् नेकी का बदला न देना क्रूरता है और उसका वदी मे जवाब देना पिशाचता है ।

अकृतज्ञ मनुष्य क्रूर और पिशाच की श्रेणी मे आ जाता है । ऐसे पुरुषो से जानवर अधिक उत्तम होते है । वे अकृतज्ञ नही होते । कुत्ता भी जिसका नमक खाता है, कभी-कभी तो जान देकर भी उसकी रक्षा करता है ।

महापुरुष तो अपना अपकार करने वाले का भी उपकार ही करते हैं।

सन्त उसमानहैरी एक बार किसी गली मे से जा रहे थे। एक मकान की खिडकी से किसी महिला ने बिना देखे उनपर थाली भर राख फेंक दी।

सन्त ने यह देखकर हाथ जोडे और कहा—बहन! धन्यवाद! ईश्वर तुम्हारा भला करे।

एक आदमी समीप ही खडा था। उसने हैरत से कहा—उस स्त्री ने आपके ऊपर राख डाल दी लेकिन आप नाराज होने के बदले हाथ जोडकर उसे धन्यवाद दे रहे है और उसके लिये ईश्वर से प्रार्थना कर रहे है? इसका क्या कारण है।

उसमान बोले—भाई, मै तो आग मे जलाए जाने लायक हूँ। किन्तु उस बहन ने सिर्फ राख डालकर ही मुझे बचा दिया। यह क्या मुझ पर कम उपकार किया है?

विनयवान् मनुष्य कृतज्ञ होता है और वह दूसरो को दु ख-दर्द से तथा चिन्ताओ से बचाने का सतत प्रयत्न करता है। वह गाली-गलौज तथा कटु-भाषा के द्वारा किसी का तिरस्कार और अपमान करके दिल नही दुखाता। उसका प्रत्येक आचरण दूसरो को प्रिय लगने वाला होता है। अप्रिय व्यवहार का वह त्याग करता है। उसके मन, वचन तथा शरीर के द्वारा किसी का भी अहित नही होता। विनयी मनुष्य का व्यवहार प्रत्येक को शाति, सतोप तथा सुख प्रदान करता है। ससार का जो भी प्राणी उसके ससर्ग मे आता है वह उसका हितचितक बन जाता है।

सज्जनो! आज मैंने आपको विनय का माहात्म्य तथा उसका प्रभाव समझाया है। इसके अलावा विनय के विभिन्न स्वरूपो को भी विस्तारपूर्वक समझाने का प्रयत्न किया है। इसमे विनय के सभी अगो का समावेश हो जाता है।

बुद्धिमान् तथा आत्म-हितैपी पुरुपो का कर्त्तव्य है कि वे विनय के स्वरूप को, महत्व को और फल को सम्यक् प्रकार से समझ कर उसका आचरण करे। उसके द्वारा ही वे इस लोक मे प्रशसा और परलोक मे मुक्ति के अधिकारी बन सकते है।

●

[१४]

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु

यजुर्वेद मे कहा गया है "तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु ।" अर्थात् मेरे मन के सकल्प शुभ एव कल्याणकारी हो ।

प्रत्येक भव्य जीव के हृदय मे यही कामना होती है। मानव-शरीर जो नाना प्रकार की चेष्टाएँ करता है, वे सब उसके आन्तरिक विचारो का ही फल होती हैं । जिह्वा से प्रस्फुटित होने वाला प्रत्येक वाक्य विचारो की ही प्रतिमूर्ति है। मन के विचार ही वाणी और काया का संचालन करते है । किसी पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है —

"As you think so shall you be"—जैसे तुम्हारे विचार होगे, वैसे ही तुम बनोगे ।

यह कथन शत-प्रतिशत सत्य है। मनुष्य जैसे विचार करेगा, जैसा सकल्प करेगा, वैसा ही उसके जीवन का निर्माण होगा। सकल्प मे बहुत बडी शक्ति होती है । इसलिये मानव का समग्र जीवन उसके सकल्प का ही फल माना जाता है। शुभ सकल्पो के कारण मनुष्य राम वनता है और अशुभ सकल्पो के कारण रावण वन जाता है। 'मनुस्मृति' में कहा गया है —

संकल्पमूल. कामो यज्ञा सकल्पसंभवा. ।
वृत्तानि यमधर्माश्च सर्वे सकल्पजा स्मृता ।।

अर्थात्—सभी कामनाओ का मूल सकल्प ही होता हैं। सभी शुभ कार्य सकल्प से ही सिद्ध होते हैं । तथा सभी व्यवहार सत्य, अहिंसा, अस्तेय ब्रह्मचर्य आदि धर्म-सकल्प से ही उत्पन्न और सिद्ध होते हैं ।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य सकल्प से ही उन्नत वनता है और सकल्प से ही अवनत भी होता है। अच्छे सकल्पो के कारण मनुष्य परिवार मे, समाज मे और राष्ट्र मे अपना उच्च स्थान वनाता है। उसका जीवन गौरवमय तथा दूसरो के लिए आदर्शरूप वनता चला जाता है ।

किन्तु अशुभ और हीन सकल्पो के कारण मनुष्य का जीवन पतन की ओर अग्रसर हो जाता है। वह मनुष्यता खो बैठता है और अ त मे अपने काले कारनामो के कारण ससार मे, निंदा, घृणा तथा उपहास का पात्र बन जाता है। वह जहाँ भी निवास करता है वहाँ के वातावरण को कलुपित बना देता है और स्वभावतः ही अन्य व्यक्ति उससे कतराने लगते है, और उससे बचने की कोशिश करते है।

सकल्प-शक्ति मनुष्य की एक महान् शक्ति है। जीवन सकल्पो के विना नही चल सकता किन्तु आवश्यकता होनी है उन्हे शुभ और शुद्ध बनाने की। हमे ध्यान रखने की आवश्यकता है कि हमारे सकल्प हमारे मन को निर्मल और उच्च बना रहे है या नही ? काम, क्रोध, विपय, कपायादि जो हमारे हृदय की पवित्रता को नष्ट करने वाले शत्रु है, उनसे लडने की शक्ति हमे दे रहे हैं या नही ? अगर ऐसा नही है तो हमारे सकल्प व्यर्थ है। और व्यर्थ ही नही, वरन् हमे पतन के अन्तिम छोर तक पहुँचाने वाले भयानक साधन हैं।

हमारे शास्त्रो मे शुभ सकल्पो तथा अशुभ सकल्पो के विपय मे गहरा विवेचन किया गया है। सकल्प भी मन के वाहन है जिनपर सवार होकर वह शुभ और अशुभ कृत्य किया करता है। अपनी सकल्प-शक्ति के द्वारा ही वह शुभ और अशुभ कर्मों का बधन करता है। कहा भी है :—

> मनसा कल्प्यते वन्धो,
> मोक्षस्तेनैव कल्प्यते।

—विवेकचूडामणि

अर्थात्-जिस मन की शक्ति द्वारा कर्म का वधन किया जा सकता है, उसी मन की शक्ति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति भी की जा सकती है।

जव मनुष्य के हृदय में शुभ सकल्प आते है, उस समय उसकी मनुष्यता जागृत हो जाती है और उसके हृदय मे ईश्वरीय शक्ति पैदा हो जाती है। वह शक्ति शरीर को नियत्रण मे रखती है और इन्द्रियो पर भी शासन करती है। यही शक्ति बुद्धि को परिष्कृत करती है, भावनाओ को निर्मल वनाती है और शुभ कार्यो को करने की प्रेरणा देती है।

अशुभ संकल्पो के कारण मनुष्य, मनुष्य-शरीर को धारण किये हुए भी

पशु बन जाता है और शुभ सकल्पो के कारण मनुष्य होते हुए भी देवता कह-लाने लगता है। अगर हमारे हृदय मे शुभ विचार आते है और वे स्थायी बने रहते है तो स्वर्ग जैसा मधुर तथा सुखद वातावरण हमारे लिये है यही बन जाता है। जो मनुष्य अपने वर्तमान जीवन का निर्माण न करके स्वर्ग प्राप्त करने के स्वप्न लेता है उसके विषय मे आचार्य कहते है —

'इलो विनष्टिर्महती विनष्टि.'

अर्थात् इहलोक का बिगाड सबसे बडा विगाड है।

जो व्यक्ति अपने शुभ कार्यों से, शुभ विचारो से और अपने मधुर व्य-वहार से अपने आसपास के वातावरण को भी स्वर्ग नही बना सकता, उसके लिये स्वर्ग प्राप्त करने की कल्पना व्यर्थ है। जो यहाँ स्वर्ग का निर्माण करेगा वही आगे स्वर्ग पाने का अधिकारी बन सकेगा।

शरीर तो मनुष्य को भी मिला है और पशु को भी। बनावट मे भी थोडा अन्तर है। किन्तु वास्तव मे जो महत्त्वपूर्ण अन्तर है वह शरीर की बना-वट मे नही, दोनो की विचार-शक्ति मे है। पशु मे विशेष विचारशक्ति नही होती, चिन्तन व मनन करने का सामर्थ्य नही होता। वे अपने जीवन का कोई लक्ष्य नही बना सकते और उसके अनुसार कर्त्तव्यो का पालन भी नही कर पाते।

मानव मे विचारशक्ति होती है। आत्मा का हित और अहित करने वाले पदार्थो की उसे पहचान होती है। चिन्तन तथा मनन करने की बुद्धि होती है और इसीलिए वह 'मनुष्य' कहलाता है। कहा भी है —

"मननात् मनुष्य"

जो मनन करता है वही मनुष्य है। अगर मनुष्य मनन करना छोड दे और बिना उचित, अनुचित तथा हिताहित का विचार किये ही कार्य करता चला जाए तो वह पशु से ऊँचा नही माना जा सकता। उसका मानव तन पाना निष्फल हो जाता है जो अनेकानेक जन्म-जन्मातरो के पश्चात् भी बडी कठिनाई से प्राप्त होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि मानव शरीर पाकर मनुष्य इसका पूरा लाभ उठा ले। तुलसीदास जी ने कहा है —

बडे भाग मानुष तन पावा, सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थन गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा, पाइ न जेहि परलोक सुधारा ॥

सो मरन्त दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछताय ।
कालहिं करमहिं, ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाय ॥

अर्थात्—मानवशरीर बडे सौभाग्य से प्राप्त होता है । सद्ग्रन्थ इसकी प्रशसा करते है और इसे देवो को भी दुर्लभ बताते है । जीव इस मनुष्य-शरीर के द्वारा ही अपने को भव बधनो से मुक्त कर सकता है, मोक्ष प्राप्ति के लिये साधना कर सकता है, किन्तु जो मानव-तन पाकर भी अपना परलोक नही सुधारता, उसे अन्त मे अत्यन्त दुख पाना पडता है और महान पश्चात्ताप करना होता हैं । अन्त समय आने पर जब परलोक को सुधारने का वक्त नही रहता और शक्ति भी साथ छोड जाती है तब वह प्राणी सिर धुनता है और खोये हुए समय की याद करके दुखी होता है । उस समय वह कभी काल को दोप देता है, कभी कर्मों को और कभी ईश्वर को मिथ्या दोप देता है । किन्तु अपनी करतूतो पर विचार नही करता ।

मनुष्य का जीवन दो भागो मे बटा हुआ होता है—अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग । बाह्य जीवन आतरिक जीवन से प्रभावित होता है और बाह्य जीवन का प्रभाव आतरिक जीवन पर पडता है । विचारो की पवित्रता दोनो के पवित्र और शुद्ध होने पर ही रह सकती है । विचार ही आचार बनता है और फिर आचार ही विचारो को स्थायी रूप देते है ।

मनुष्य की इच्छाए असीम अर्थात् गणनातीत होती है । उसकी प्रत्येक इच्छा एक सकल्प हो जाती है । उन समस्त सकल्पो को शुभ सकल्पो मे परि-णत करना सहज नही है किन्तु मोक्षार्थी साधक को अत्यन्त विवेकपूर्वक तथा दृढ नियम पूर्वक उनको शुभ बनाने का प्रयत्न करना चाहिये और अशुभ सकल्पो का नाश और त्याग करना चाहिये ।

सकल्पो का, दूसरे शब्दो मे विचारो का जीवन के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है । विचार अदृश्य रूप मे रहते हुए भी अपना कार्य करते रहते है और उनके परिणाम शुभ और अशुभ रूप मे हमारे सामने आते है । अगर विचार हीन और तुच्छ होगे तो मनुष्य आचरण से गिर जाएगा और अगर विचार पवित्र और उन्नत होगे तो वह महात्मा बनकर अन्त मे परमात्मा भी बनेगा । एक शायर ने इस विषय मे बडे ही सुन्दर ढग से कहा है —

गिरते हैं जब ख्याल तो गिरता है आदमी ।
जिसने इन्हे सभाल लिया वो संभल गया ॥

अर्थात् जव मनुष्य के विचार गिर जाते है तो उसका आचरण भी गिर जाता है और धीरे-धीरे उसका पतन होना शुरू हो जाता है। परिणाम यह होता है कि अन्त मे वह पूरी तरह गिर जाता है। इसके विपरीत, जव मनुष्य अपने विचारो को सभाल लेता है, अर्थात् उनपर दृढनापूर्वक नियन्त्रण रखता है तो वे जीवन को पवित्र, शातिमय और नैतिकता पूर्ण वनाने मे सहायक होते हैं और परिणाम स्वरूप जीवन उन्नत वनता चला जाता है और अत मे उसे भव-बधनो से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

मनुष्य अनेकानेक ग्रन्थो को पढ लेता है, दुनिया भर का ज्ञान भी अपनी खोपडी मे भर लेता है किन्तु अपने विचारो की पवित्रता की ओर उसका ध्यान नही जाता। अन्तःकरण को समझने की कोशिश नही करता। जिस विषय का जीवन के उत्थान और पतन मे अत्यन्त घनिष्ठ सवध है उसी की ओर उसकी उदासीनना रहती है।

कहने का मतलब यही है कि शुभ मकल्प अथवा शुभ और श्रेष्ठ विचारो का हमारे जीवन पर महान प्रभाव पडता है। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि हमारे विचार जिस प्रकार के होते है उसी प्रकार का हमारा जीवन बनता है। जिम प्रकार से हम वोलते हैं उसी प्रकार की क्रियाएँ भी करने लगते हैं। इसीलिए कहा जाता है —

यद् मनसा ध्यायति, तद् वाचा वदति।
यद् वाचा वदति, तद् कर्मणा करोति॥
यत् कर्मणा करोति तत्फलमुपपद्यते॥

अर्थात् मानव जैसा विचार करना है उसी प्रकार को वाणी वोलता है। जैसी वाणी बोलता है वैसी ही क्रियाएँ करता है, और जैसी क्रियाए की जाती है, वैसा ही उसका फल उत्पन्न होता है।

यहाँ कहा गया है कि मनुष्य के मन मे जैसे विचार होगे, जैसा उसका ध्यान और चिन्तन होगा वैसी ही वाणी का वह प्रयोग करेगा। अतएव मनुष्य को सर्वप्रथम अपने मन को शुद्ध बनाना चाहिये।

मन द्रव्य एक सूक्ष्म सत्ता है। वह अत्यन्त सूक्ष्म मनोवर्गणा के परमा-

परमाणुओ से बना हुआ है। भाव मन अमूर्त्त है और वह आत्मा की वैभाविक शक्ति है। द्रव्यमन के आलबन से मनन-क्रिया होती है। वही पदार्थों को सुख-दु ख रूप कल्पित करता है। वास्तव मे भौतिक वस्तुओ से जो सुख प्राप्त होता हुआ दिखाई देता है वह वास्तव मे सुख नही वरन् सुखाभास होता है। जो सुख सासारिक पदार्थों में प्रतीत होता है वह उन पदार्थो मे नही होता। उस सुख का भास मन की ही परिणति है। कल्पना कीजिये कि एक पुरुप नटो का नृत्य देख रहा है और उसमे उसे आनन्द आ रहा है, किन्तु कुछ ही समय पश्चात् उसका एक मित्र किसी मनोरजक फिल्म के आने की सूचना देता है तो वह सिनेमा देखने चला जाता है और उसमे सुख का अनुभव करता है। पर अकस्मात् ही उसके घर से कोई व्यक्ति उमे खोजता हुआ आता है और घर मे आग लग जाने की सूचना देता है तो उसी क्षण सिनेमा देखने मे जो आनन्द उसे आ रहा था वह विलीन हो जाता है और वह घर की ओर भागता है।

अब बताइये अगर नटो के खेल मे आनन्द होता तो वह उसे छोडकर सिनेमा देखने क्यो जाता ? और सिनेमा देखने मे ही आनन्द होता तो उसे छोडकर घर की ओर क्यो दौडता ? इससे प्रतीत होता है कि सुख तो मन की परिणति विशेष मे ही है। अत अगर मन पर कठोरता से नियत्रण न रखा जाए तो वह बडा अस्थिर बना रहता है और जैसी-जैसी परिस्थितियाँ उसके सामने आती हैं उसी के अनुसार उसके मन मे काम, क्रोध, मोह और लोभ आदि की भावनाए उत्पन्न होती है। श्री सुन्दरदास जी ने मन की गति का सुन्दर विवेचन किया है —

जो परनारी की ओर निहारत,
तो मन होत है ताहि को रूपा।
जो मन काहू सौं क्रोध करे तब,
क्रोधमयी होए ताहि को रूपा॥
जो मन माया ही माया रटे नित,
तो मन बूडत माया के कूपा।
सुन्दर जो मन ईश विचारत
तो मन होत है ईश-स्वरूपा॥

बधुओ, इस सुन्दर पद का अर्थ आप समझ गए होगे। जो मनुष्य अस्थिर-

उस समय मनुष्य के हृदय मे सिर्फ भयाक्रात जीवो को भय से रहित करने की भावना तथा उनके हित की इच्छा होती है ।

मानसिक सयम रखने वाला व्यक्ति बलिष्ठ और दीर्घजीवी भी बनता है । अशात और अस्थिर विचारो वाला मनुष्य उत्तेजना तथा क्रोध के कारण अपनी आयु को कम कर लेता है । शात तथा पवित्र विचारो वाला व्यक्ति मानसिक शक्ति बढा लेता है और दीर्घजीवी होता है । दृढ सकल्प और आत्म-विश्वास मन मे तल्लीनता तथा तत्परता पैदा करता है । और वैसी स्थिति मे किया गया प्रत्येक कार्य लाभ-प्रद बन जाता है । इसलिये प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह क्रोध, चिन्ता तथा निराशा आदि के द्वारा मन को रोगी न बनाए और मानसिक रूप से सदा स्वस्थ रहने का प्रयत्न करे ।

मानसिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है प्रसन्नचित्त रहना । हम अनेक व्यक्तियो को सदा दुखो से व्याकुल तथा चिन्तातुर देखते है । वे दूसरो की समृद्धि तथा सुखमय अवस्था को देखकर ही द्वेष तथा ईर्ष्या की आग मे निरतर जला करते है । दूसरो के छिद्र देखा करते है और उनकी निंदा करके अपने चित्त को कलुषित बनाते है । ये सब मानसिक रोग है जिनका प्रभाव शरीर पर भयकर रूप से पडता है । कहा भी है —

'A merry heart doeth good like a medicine, but a broke spirit drieth the bones"

अर्थात्—प्रसन्नचित्त रहना औषध का काम देता है किन्तु शोकयुक्त रहना अस्थियो को सुखा देता है ।

कई विद्वान् तो यहाँ तक कहते है कि रोग वास्तव मे शरीर मे उत्पन्न नही होता किन्तु मन मे होता है । रोगग्रस्त मन की भावनाएँ शरीर को भी अस्वस्थ बना देती है । जिनका मन सदा विक्षिप्त और अशात रहता है, उनकी एकाग्रता नष्ट हो जाती है । गीता मे एक स्थल पर श्रीकृष्ण ने कहा है :—

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि पर्यवतिष्ठते ।

यानी प्रसन्नचित्त रहने से बुद्धि शीघ्र ही एकाग्र हो जाती है ।

मेरे कथन का साराश यही है कि हृदय मे शुभ सकल्प स्थापित करने के लिये सर्व प्रथम इन्द्रियो तथा मन पर सयम रखने का प्रयत्न करना चाहिए

ईर्ष्या, द्वेष, विषय तथा कषायादि से मन को विकृत न होने देकर उसे सरल, शुद्ध और दृढ बनाना चाहिये। शुद्ध मन मे ही शुद्ध सकल्प हो सकते है और मन के दृढ रहने पर वे स्थायी बन सकते है।

अभी आपको बताया था कि "यद् मनसा ध्यायति, तद् वाचा वदति।"

अर्थात्—मन मे जैसे विचार होते है वैसे ही वाणी के द्वारा बोले जाते है। वाणी ही मन का दर्पण है। वाणी के द्वारा ही मनुष्य के हृदयगत भावो की पहचान होती है। वाणी का प्रभाव सुनने वाले पर एकदम ही पडता है। मधुर वचनो को सुनकर मनुष्य आनन्दविभोर हो उठता है और कटु वचनो को सुनकर शोकाकुल। कहा जाता है —

ससारकटुवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
सुभाषित च सुस्वादु सगति सुजने जने॥

अर्थात्—ससार रूपी कटु वृक्ष के अमृत के समान दो फल है, सरस प्रिय वचन और सज्जनो की सगति।

बुद्धिमान् पुरुष अपने वचनो का अत्यत सावधानीपूर्वक प्रयोग करता है। वह ध्यान रखता है कि मेरे वचनो के द्वारा किसी भी प्राणी को खेद न हो, किसी का तिरस्कार न हो, किसी के दिल को चोट न पहुँचे। और ऐसे व्यक्ति के वचनो का प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर बडा आश्चर्यजनक प्रभाव पडता है।

कहा जाता है कि जब सामनगढ का किला बन रहा था, महाराज शिवाजी एक दिन उसका निरीक्षण करने आए। वहाँ बहुत से मजदूरो को काम करते देखकर उन्हें गर्व का अनुभव हुआ और वे सोचने लगे—'मेरे कारण इतने लोगो की रोजी चल रही है।'' इतने मे ही गुरु श्री समर्थ वहाँ आए। उन्होने शिवाजी के इस अहकार को जान लिया। वे बोले—'वाह! शिवा, वाह! इतने व्यक्तियो का पालन तुम्हारे द्वारा ही हो रहा है।' गुरु के मुख से भी इसी बात को सुनकर शिवाजी महाराज अपने को अधिक धन्य समझने लगे। बोले—भगवन्! यह सब आपके आशीर्वाद का ही फल है।

इतने मे ही मार्ग मे एक चट्टान देखकर गुरुजी ने कहा—यह चट्टान बीच मे क्यो छोड दी है?

शिवाजी ने उत्तर दिया—'रास्ता बन जाने पर इसे तुडवा दिया

जाएगा। श्री समर्थ बोले—नही, नही, प्रत्येक काम को हाथो-हाथ ही करवाना चाहिये। जो काम रह जाता है वह बाद मे हो नही पाता।

शिवाजी ने फौरन कारीगरो को बुलवाया और बात की बात मे चट्टान तोड डाली गई। उसके नीचे पानी से भरा एक गड्ढा निकला और गढे मे एक जीवित मेढक। सद्गुरु उस देखते ही बोले—शिवा धन्य हो तुम। इस शिला के अन्दर भी तुमने पानी रखवाकर इस मेढक को जीवित रखने का इतजाम कर दिया है।

श्री समर्थ के इन वचनो का ऐसा आश्चर्यजनक प्रभाव पडा कि शिवाजी का अहकार क्षण भर मे ही विलुप्त हो गया और वे अपनी भूल समझ कर तुरन्त ही गुरुजी के चरणो मे गिर पडे। उन्होने अपने झूठे अहकार के लिए क्षमा मागी।

कहने का तात्पर्य यही है कि निष्कपट और सदा दूसरो का हित चाहने वाले व्यक्ति के वचनो का प्रभाव अविलम्ब और आश्चर्यजनक रूप से पडता है। वह इस कथन को चरितार्थ करता है :—

मधुर वचन है औषधि, कटुक वचन है तीर।
श्रवण द्वारा ह्वै सचरे, साले सकल शरीर।।

वास्तव मे मृदुता का दूसरा नाम ही मनुष्यता है और कटुता का पिशाचता। मृदुभाषी पुरुष के सभी मित्र होते है और कटु भाषी के सभी शत्रु। मृदुभाषी के लिए सब अपने और कटुभाषी के लिए सब पराये होते हैं।

मृदुभाषी मनुष्य का मन अत्यन्त कोमल तथा शुभ संकल्पो से भरा हुआ होता है। उसके हृदय मे प्राणी मात्र के प्रति प्रेम और दया की भावना विद्यमान रहती है। तभी तो उसकी वाणी सुनने वाले के हृदय मे अनिर्वचनीय आह्लाद उत्पन्न कर देती है अन्यथा जो चीज मन मे न हो वह वचनो मे कैसे आ सकती है? मन की सरलता, निष्कपटता और शुद्ध सकल्प ही वाणी के द्वारा बाहर आते हैं। शुभ सकल्पो से भरा हुआ मन ही अपनी स्वर्गीय सम्पत्ति से अन्य इन्द्रियो को भी मृदुता से सम्पन्न बना देता है।

जिसके हृदय मे शुभ विचार होते है उसके सन्मुख चाहे कोई भी भीषण विपत्ति आ जाए, प्रलय काल का पवन भी क्यो न चलने लगे, तब भी वह अशात नही होता। तनिक भी घबराहट उसके चेहरे पर नही आ सकती।

इसीलिये मनुष्य को सदा अपने हृदय मे शुभविचारो को और शुभ सकल्पो को ही स्थान देना चाहिये जिससे उसके वचनो मे भी मृदुता बनी रहे।

हृदय के विचार तो दूसरे मनुष्यो को कुछ विलम्ब से भी समझ मे आते है। यह भी सभव है कि द्वेष और कपट आदि से भरे हुए सकल्प किसी को ज्ञात न हो।किन्तु वचन का प्रभाव पल भर मे ही सुनने वाले व्यक्ति पर पड जाता है। मुख के द्वारा बाहर निकलते ही सारा जगत उनको जान लेता है। उनका प्रभाव उच्चारण करने के साथ ही होना शुरु हो जाता है। अत वचनो के उच्चारण मे प्रत्येक मानव को अत्यत सावधानी रखना आवश्यक है।

धनुष के द्वारा छोडे गये तीर और बन्दूक से निकली हुई गोली का जिस प्रकार तुरन्त ही असर हो जाता है, उसी प्रकार मुँह से कहते ही वचनो का असर हो जाता है। इसीलिये किसी कवि ने सीधे और सरल शब्दो मे कहा है '—

बोल सकते हो अगर तो बोल लो
तुम बडी प्यारी रसीली बोलियाँ।
दिल किसी का चूर मत करते रहो,
मुह से चलाकर गालियो की गोलियाँ।

यह बात कभी भी विस्मरण नही करनी चाहिए कि अनन्त पुण्य का उदय होने पर जीभ मिलती है और उसके पश्चात् भी अनन्त पुण्य का उदय होने पर बोलने की क्षमता आती है। मनुष्य जन्म-जन्मान्तर तक बडी भारी कीमत अदा करता है अर्थात् अपना प्रकृष्ट पुण्य देकर बदले मे बोलने की शक्ति प्राप्त करता है। इतनी बहुमूल्य शक्ति को अविवेक तथा बुद्धिहीनता के कारण व्यर्थ गँवाना क्या महामूर्खता नही है ? इस अद्भुत शक्ति के द्वारा तो जितनी कीमत हमने चुकाई है उसका पूरा पूरा लाभ हमे उठाना चाहिये। तभी हमारा जिह्वा को प्राप्त करना सार्थक हो सकेगा।

वाणी के पश्चात् कर्म का महत्त्व बताया गया है। मनुष्य जैसी वाणी बोलता है वैसे ही कर्म करता है —यद् वाचा वदति, तद् कर्मणा करोति।" अर्थात् जैसी वाणी बोलता है वैसी ही क्रियाएँ करता है।

विश्व मे जितने भी महापुरुष हुए हैं और जिनकी कीर्ति से मनुष्य-जाति का इतिहास प्रकाशित है, वह सब उनके शुभ कर्मों का ही फल है। जिन जातियो मे परम्परागत विशुद्ध सस्कारो के कारण या वातावरण की

उत्तमता के कारण व्यक्ति सदाचारी होते है और शुभ सकल्प तथा उनके अनुसार शुभ कार्य करते है, वे जातियाँ मानवता को जीवित रखती है। वे ही जातियाँ आर्य सस्कृति को संसार के सामने शुद्ध और परिष्कृत रूप मे रखती है। वे स्वय सपन्न अवस्था मे रहती है और सभी के सम्मान की पात्र बनती है। क्योकि शुभ कर्म ही मन की पवित्रता को जाहिर करते हैं —

"Great action speak of great mind."

— महान् कर्म महान् मस्तिष्क को सूचित करते हैं।

मनुष्य कितना ही ज्ञानवान् क्यो न हो, कितने भी शास्त्रो मे पारगत क्यो न हो जाए, किन्तु अगर उसके कर्म शुभ नही है तो वह ज्ञान उसके लिये व्यर्थ और भाररूप है। कहा भी है :—

"हत ज्ञानं क्रिया-शून्यं —
हता चाज्ञानिन. क्रिया।"

—शुभचन्द्राचार्य

अर्थात् चरित्र से रहित पुरुप का ज्ञान निरर्थक होने से फलशून्य होता है और सम्यक् ज्ञान से रहित पुरुप की क्रियाएँ भी भारभूत होने से व्यर्थ होती है।

सदाचार के विना मानव-जीवन का कोई मूल्य नही है। ऐसी उत्तम पर्याय पाना भी न पाने के समान ही हो जाता है। शरीर की आकृति का कोई मूल्य नही है। मनुष्य के जैसी ही आकृति वन्दर की भी होती है किन्तु आकृति मात्र से कोई लाभ नही होता। सच्चा मनुष्य वही कहलाता है जो मनुष्योचित शुभ कर्म करता है, अपने शुभ सकल्पो को अपने आचार मे उतारता है।

जिस प्रकार रत्नाभूषणो की कीमत तिजोरी से नही आँकी जाती, वस्त्रो की कीमत पेटी से नही मानी जाती, उसी प्रकार मनुष्य की कीमत उसकी आकृति अथवा सुन्दरता के कारण नही मानी जा सकती। उसकी महत्ता तो उसकी अपनी अच्छाइयो पर तथा अच्छी क्रियाओ पर ही निर्भर होती है।

मनुष्य का शरीर सुन्दर है, उसके पास अतुल वैभव है, स्वजन-परिजनो

से भरा-पूरा परिवार है, ससार की समस्त वस्तुएँ है, किन्तु अगर सदाचार नही है तो समझना चाहिये कि उसके पास कुछ भी नही है।

दीर्घकाल मे वासनाओ और कषायो से प्रभावित होने के कारण मनुष्य की प्रवृत्तियाँ कुपथ की ओर अग्रसर हो जाती है। ऐसी स्थिति मे सदाचार की रक्षा करने के लिये अत्यन्त सावधान और सजग रहने की आवश्यकता होती है। अपने आचार को दृढ और कर्मों को पवित्र बनाने के लिये भगवान् महावीर ने अत्यन्त सरल और सुन्दर उपाय बताया है—

किं मे परो पासइ किं च अप्पा,
किं चाह खलिय न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो,
अणागय नो पडिबधं कुज्जा॥

अर्थात् प्रत्येक विचारशील और मन-शुद्धि के लिये साधना करने वाले पुरुष को यह सोचना चाहिये कि दूसरे व्यक्ति मुझमे क्या दोष देख रहे है? स्वय मुझमे क्या दोष है? क्या मैं इन दोषो का परित्याग नही कर रहा हूँ? इस प्रकार सम्यक् रूप से अपने दोषो का निरीक्षण करने वाला साधक कोई ऐसा कार्य नही करता जिससे उसके शील और सयम मे बाधा पहुचे।

आचारवान् पुरुष अपने हृदय की प्रेरणा से उचित और शुभ मार्ग पर चलता है। वह कभी ठोकर खाकर पाप के गढे मे नही गिरता। वह न केवल स्वय उन्नत बन जाता है किन्तु अपने ससर्ग मे आने वाले अन्य प्राणियो को भी ऊचा उठा देता है। उसके सदाचार का सौरभ समस्त वायुमडल को सुगधित बना देता है और वह जिस देश मे भी रहता है उसकी प्रतिष्ठा और गौरव में वृद्धि करता है।

कोरे शब्द-ज्ञान और विद्वत्ता से आत्मा का कल्याण नही हो सकता। कर्मों से मुक्ति तो सदाचरण से ही हो सकती है। शुभ क्रियाओ के द्वारा ही आत्मा परमानन्द को प्राप्त कर सकता है। सम्यक् ज्ञान तो हमे वस्तु का सच्चा स्वरूप बता सकता है। कौन-सी वस्तु त्यागने योग्य है और कौनसी वस्तु ग्रहण करने योग्य है? यह उससे समझा जा सकता है, तथा वह साधना का मार्ग प्रकाशित कर सकता है। किन्तु त्याज्य वस्तु को त्यागना, उपादेय वस्तु का उपादान करना, और सन्मार्ग पर चलना तो क्रिया के द्वारा ही सभव है।

जो व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करके ही सतुष्ट हो जाता है और समझ लेता है कि ज्ञान से ही हमारा कल्याण हो जाएगा, वह बडी भूल करता है। प्राप्त किये हुए ज्ञान को अगर आचरण मे न लाया जाय तो वह उसी प्रकार होगा जिस प्रकार कि सर्प को नेत्रो से देखकर भी बचने का प्रयत्न न करना, यह जानकर भी कि अमुक औषधि से रोग का नाश होता है, औषधि न लेना। ऐसी स्थिति मे सर्पदश से कैसे बचा जाएगा ? बीमारी का नाश कैसे होगा ? और क्रिया के बिना कर्मों से छुटकारा कैसे मिलेगा ?

"आचार प्रथमो धर्मः।" आचार ही सबसे पहला धर्म है। अनेकानेक शास्त्र पढकर भी उन्हे अपने जीवन मे, कर्म मे न उतारा जाय तो उनको पढने से क्या लाभ हुआ ? एक गधे पर अगर चन्दन का बोझा रखा जाय तो वह उसको भार ही महसूस होगा। इसी प्रकार मनुष्य ज्ञान की कितनी भी बडी गठरी लाद ले, विद्वत्ता का कितना भी बोझ अपने ऊपर लाद दे, किन्तु अगर वह उसे आचरण मे नही लाएगा तो वह मात्र भारभूत ही महसूस होगा।

कषाय के वशीभूत होकर जो कर्म किये गए है वे भौतिक पदार्थो की प्राप्ति तो करा सकते हैं किन्तु आत्मा को निर्मल नही बना सकते। जब तक प्राप्त हुआ ज्ञान सम्यक् प्रकार से जीवन मे नही उतरता और उसके अनुसार कर्म नही किये जाते तब तक वह ज्ञान और क्रियाए सभी व्यर्थ साबित होती है।

कौरव और पाडव गुरु द्रोणाचार्य के पास शिक्षा प्राप्त करते थे। एक दिन गुरुजी ने अपने सब शिष्यो को पाठ पढाया—"क्षमा कुरु।" अर्थात् क्षमा धारणा करो।

उनके समस्त शिष्यो ने अगले दिन यह पाठ याद करके सुना दिया, किन्तु युधिष्ठिर ने नही सुनाया। दो-तीन दिन बीत जाने पर आचार्य ने युधिष्ठिर से पाठ सुनाने के लिये कहा पर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—भगवन्, मुझे तो अभी पाठ याद नही हो पाया।

इसके पश्चात् भी कई दिवस व्यतीत हो गए और युधिष्ठिर ने पाठ नही सुनाया तो गुरुजी को क्रोध आ गया। उन्होने युधिष्ठिर को बहुत पीटा।

मार खाते समय युधिष्ठिर विलकुल शात रहे। उनके मन मे तनिक भी क्रोध नही आया।

मार खा चुकने के पश्चात् युधिष्ठिर ने कहा—आचार्यवर ! अव मुझे पाठ याद हो गया।

द्रोणाचार्य ने हैरानी और क्रोध से कहा--इतने दिनो तक तुझे जो पाठ याद नही हुआ था वह अभी-अभी कैसे हो गया ?

युधिष्ठिर ने कहा—गुरुदेव ! इतने दिन तक मैं यही विचार कर रहा था कि ऐसा प्रसग आए कि कोई मुझे मारे-पीटे या चोट पहुचाए फिर भी मैं शान्त रहू—मेरे मन मे तनिक भी क्रोध न आए और मन मे क्षमाभाव वना रहे तव जानू कि पाठ याद हो गया। आज ऐसा अवसर आया है। आपने मुझे पीटा और मुझपर क्रोध भी किया किन्तु मेरे हृदय में तनिक भी क्रोध उत्पन्न नही हुआ है। मेरा मन पूर्ववत् प्रसन्न है। अत मैं समझता हू कि आज मुझे आपका पढाया हुआ पाठ—"क्षमा कुरु" याद हो गया है।

द्रोणाचार्य युधिष्ठिर की वात सुनकर गद्गद हो उठे। उन्होने उसे अपने हृदय से लगा लिया। बोले—वत्स ! मेरा पढाया हुआ पाठ पूरे तौर से सिर्फ तुम्ही याद करते हो !

तात्पर्य यह है कि मनुष्य को चाहिये कि वह सर्वप्रथम मन मे शुभ सकल्पो को स्थान दे और उनके अनुसार ही वाणी पर सयम रखते हुए उसका प्रयोग करे। परिणाम यह होगा कि मन के शुभ विचारो के अनुसार ही जिह्वा से वचन निकलेंगे और वचनो के अनुसार ही उत्तम क्रियाए हो सकेगी।

सूत्र मे आगे कहा गया है—"यत् कर्मणा करोति, तत्फलमुत्पद्यते।" अर्थात्-जैसी क्रियाए की जाती है वैसा ही उनका फल उत्पन्न होता है।

शुभ सकल्पो के अनुसार शुभ क्रियाए करने से उनका फल तो स्वय ही मिल जाता है। उसके लिये प्रयत्न करने की आवश्यकता नही होती। खेत मे जैसा वीज वोया जाता है उसके अनुसार ही पौधा तैयार हो जाता है। इसलिये कर्मो के फल की आकाक्षा न रखते हुए मनुष्य शुभ कर्म करने का ही प्रयत्न करे। शुभ कर्म करने पर उसका फल तो निश्चय ही स्वय प्राप्त हो जाएगा। महाभारत से भी कहा गया है—

शुभेन कर्मणा सौख्यं, दु ख पापेन कर्मणा ।
कृतं फलति सर्वत्र, नाकृतं भुज्यते क्वचित् ।।

—वेदव्यास

अर्थात्—शुभ कर्म करने से सुख और पाप कर्म करने से दु ख मिलता है। सर्वत्र अपना किया हुआ कर्म ही फल देता है । बिना किये फल नही भोगा जा सकता ।

जो महान् पुरुष फल की अभिलाषा छोड कर कर्म करते है, उन्हे कालातर मे फल अवश्य प्राप्त होता है । गीता मे श्रीकृष्ण ने बार-बार कहा है कि —"फलासक्ति छोडो और कर्म करो, आशारहित होकर कर्म करो, निष्काम होकर कर्म करो । जो फल की आकाक्षा छोडकर कर्म करते हैं उन्हे मोक्ष-पद अवश्य प्राप्त होता है ।"

कर्मों का महत्त्व वचनो से भी अधिक होता है । जो व्यक्ति सिर्फ शब्दो के आडम्बर से और अपनी पाडित्यपूर्ण भाषा के प्रयोग से ही अपने को उच्च मानते है, पाप, पुण्य, बध और मोक्ष की बाते ही बघारते रहते है तथा अपनी वाचनिक शक्ति से ही अपने को सतुष्ट हुआ मानते है, वे कभी अपनी आत्मा को दु खो से छुटकारा नही दिला सकते । ऐसे बाल-अज्ञानी जीव अत मे विषाद ही पाते है । किसी विद्वान् ने कहा भी है—

"Actions speak louder than words"

अर्थात् कर्मों की ध्वनि शब्दो से ऊची होती है ।

स्पष्ट है कि कोरे ज्ञान या वचनमात्र से ही आत्मा का कल्याण नही हो सकता, आत्मा का कल्याण तो इनके साथ ही साथ शुभ क्रियाए करने से होता है ।

किन्तु यह ध्यान मे अवश्य रखना चाहिये कि आत्मा के कल्याण के लिये जो भी क्रियाए की जाती है उनका मूल तो शुभ सकल्प ही हैं । अगर इस मूल को सावधानीपूर्वक सीचा जाएगा तो मुक्ति रूपी फल निश्चय ही प्राप्त होकर रहेगा ।

शुभ सकल्पो मे इतनी अद्भुत शक्ति विद्यमान है और वह इतनी प्रबल है कि जिसकी कल्पना करना भी अत्यन्त कठिन है । हमारा इतिहास वेद और पुराण सभी इस बात के साक्षी हैं कि मनुष्य के सकल्पो के सम्मुख

देव-दानव सभी परास्त होते है। गाधी जी कहते है—दृढ सकल्प एक गढ के समान होता है जो भयकर प्रलोभनो से हमको बचाता है, दुर्बल और डावा-डोल होने से वह हमारी रक्षा करता है।

बधुओ ! मन को सम्यक् प्रकार से साधकर शुभ सकल्प करना चाहिये और करने के बाद किसी भी स्थिति मे उन्हे त्यागना नही चाहिये। शुभ और सत्य सकल्प ही ईश्वर के प्रति सबसे बडी निष्ठा है। इसी को भक्ति, पूजा, उपासना और साधना सभी कुछ कह सकते है। शुभ सकल्प रूपी शुभ मार्ग पर चल कर मनुष्य निश्चय ही मुक्ति रूपी महल मे प्रवेश कर सकता है और सदा के लिये भव-भ्रमण से छुटकारा पा सकता है।